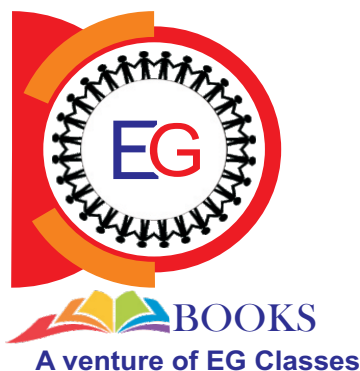


Expert Guidance

EG CLASSES



विश्व का इतिहास

A Manish Singh Sir's Initiative

विश्व इतिहास

EXPERT GUIDANCE CLASSES

'Understanding the World'

**"Education is not the learning of
facts, but the training of the
mind to think"**



© 2018 EG BOOK Pvt. Ltd.

ALL RIGHT RESERVED. No part of this work covered by the copyright herein may be reproduced, transmitted, stored, or used in any form or by any means graphic, electronic, or mechanical, including but not limited to photocopying, recording, scanning, digitizing, taping, web distribution, information networks or information storage and retrieval systems, without the prior written permission of the publisher.

EG BOOK Pvt. Ltd.
B-7/8, Bhandari House, Behind Uco Bank,
Mukherjee Nagar - 110009



विषय सूची

क्रम संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
1.	औद्योगिक क्रांति	1-6
2.	अमेरिका क्रांति	7-9
3.	फ्रांसीसी क्रांति	10-15
4.	1917 की रूसी क्रांति	16-22
5.	इटली का एकीकरण	23-27
6.	जर्मनी का एकीकरण और बिस्मार्क	28-35
7.	प्रथम विश्वयुद्ध	36-45
8.	द्वितीय विश्वयुद्ध	46-51
9.	फासीवाद और नाजीवाद	52-60
10.	आर्थिक मंदी	61-65
11.	शीत युद्ध	66-72
12.	संयुक्त राष्ट्र संघ	73-76
13.	गुटनिरपेक्षता	77-87
14.	उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद	88-92
15.	समाजवाद एवं मार्क्सवाद	93-97
16.	अंतर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व	98-104

1. औद्योगिक क्रांति (Industrial Revolution)



औद्योगिक क्रांति से आशय उन वैज्ञानिक आविष्कारों, तकनीकों अनुसंधानों एवं उनके अनुप्रयोगों से है जिसके फलस्वरूप 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इंग्लैंड में परंपरागत उद्योगों के स्थान पर नए एवं विशाल उद्योगों की स्थापना की गई जिससे उत्पादन की तीव्र गति एवं बेहतर उत्पाद के फलस्वरूप तत्कालीन औद्योगिक परिवेश में क्रांतिकारी परिवर्तन आए। 18वीं शताब्दी के प्रारंभिक काल तक इंग्लैंड में लघु एवं कुटीर उद्योग-धंधों की ही प्रमुखता थी, परन्तु नए-नए यांत्रिक अनुसंधानों के फलस्वरूप संगठित एवं विशाल कारखाना पद्धति का विकास हुआ, जिसमें मशीनों द्वारा व्यापक पैमाने पर उत्पादन संभव हो सका। इस बदले परिवेश से पूंजीवादी विचारधारा सामने आई तथा देश की संपूर्ण जगह पर पूंजीपतियों का निर्णायक नियंत्रण स्थापित हो गया। इस तरह कुटीर उद्योगों के स्थान पर कारखाना प्रणाली तथा दस्तकारी के स्थान पर मशीन युग की शुरुआत ही औद्योगिक क्रांति है। इस क्रांति ने वृहद पैमाने पर पूंजीवाद के विकास को प्रोत्साहन, औद्योगिक श्रमिक-वर्ग के स्तर में बदलाव, जनसंख्या में वृद्धि तथा इसका स्थानान्तरण एवं नव साम्राज्यवाद को बढ़ावा दिया तथा साथ ही नई सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक समस्याओं को भी जन्म दिया।

इंग्लैंड में सर्वप्रथम औद्योगिक क्रांति होने के कारण

(Reasons behind First Industrial Revolution in England)

18वीं शताब्दी में फ्रांसीसी उद्योग-धंधे एवं व्यापार इंग्लैंड की अपेक्षा उन्नतिशील अवस्था में थे। जनसंख्या के मामलों में फ्रांस की जनसंख्या इंग्लैंड से लगभग तिगुनी थी। खनिज संसाधन, मशीनी शक्ति एवं कच्चा माल भी फ्रांस में अपेक्षाकृत अधिक था, फिर भी औद्योगिक क्रांति इंग्लैंड में हो क्यों हुई? इसके लिए अनेक कारण उत्तरदायी थे जो इस प्रकार हैं-

- 1. इंग्लैंड भौगोलिक स्थिति :** इंग्लैंड की अनुकूल भौगोलिक स्थिति ने औद्योगिक क्रांति के लिए एक मजबूत आधार प्रदान किया। चारों ओर से समुद्र से घिरे होने के कारण इंग्लैंड के चारों ओर अनेक बंदरगाहों का विकास हुआ। व्यापारिक आवागमन में सुविधा तथा परिवहन की सस्ती एवं अच्छी सुविधा जैसे निर्णायक कारकों से आंतरिक एवं बाह्य व्यापार को प्रोत्साहन मिला। इसके अतिरिक्त कपड़ों के उत्पादन के लिए उपयुक्त जलवायु, शक्ति साधन के रूप में कोयला धातु के रूप में लोहा तथा आवागमन हेतु नदियों की उपस्थिति ने औद्योगिक क्रांति हेतु प्रेरक तत्व का काम किया।
- 2. कोयला तथा लोहे के उत्पादन में वृद्धि :** इंग्लैंड में कोयला एवं लोहे के प्रचुर भंडार के बावजूद भी उसका कोई विशेष महत्त्व नहीं था। जब तक उससे उत्पादन में वृद्धि न हो जिससे ईंधन के रूप में तथा मशीन निर्माण में इसका यथेष्ट उपयोग हो सके। हालाँकि इंग्लैंड में 1700 ई तक कोयला उत्पादन के प्रारंभिक प्रयास आरंभ हो चुके थे। किन्तु एक बड़ी समस्या यह थी कि अधिक गहराई में कोयला खुदाई के क्रम में पानी निकल जाता था, अतः किसी ऐसी युक्ति की आवश्यकता महसूस हो रही थी जिससे उसे पानी को खदानों से निकाला जा सके और कोयला का उत्पादन बढ़ाया जा सके। इस संबंध में जेम्स वाट एवं मैथ्यू बोल्टन के प्रयास से वाष्प इंजन का विकास हुआ और इंग्लैंड में कोयला उत्पादन में अभूतपूर्व वृद्धि हुई।
यद्यपि इंग्लैंड में लोहे की कमी नहीं थी, परन्तु उसके उपयोग हेतु उसे गलाने की जरूरत पड़ती थी। तत्कालीन पद्धति के अनुसार लकड़ी की सहायता से लोहा को गलाकर उपयोग किया जाता था। यह प्रणाली काफी धीमी एवं खर्चीली भी थी। हालाँकि 'डार्बी' द्वारा विकसित लोहे को गलाने की कोयला पद्धति ने काफी हद तक इस समस्या का समाधान कर दिया परन्तु इस तरीके से गलाए गए लोहे में शुद्धता का अभाव था। अंततः हेनरी कोर्ट द्वारा कोक का उपयोग कर कच्चे लोहे की अशुद्धियां दूर करने एवं शुद्ध लोहा के उत्पादन में सफलता प्राप्ति की गई। इस पद्धति से इंग्लैंड में लौह उद्योग की पर्याप्त प्रगति संभव हो पाई।
- 3. कृषि क्रांति का प्रभाव :** औद्योगिक क्रांति को बढ़ावा देने में इंग्लैंड में होने वाली तीव्र कृषि क्रांति का भी योगदान कम नहीं था। बढ़ती हुई जनसंख्या हेतु कृषि उत्पादन में वृद्धि समय की मांग थी। अतः इंग्लैंड में नई कृषि विधियों जैसे चकबन्दी व्यवस्था (बाड़ा आंदोलन) का विकास हुआ। इसके तहत जमींदारों



के अधीन बड़े-बड़े कृषि फार्म स्थापित हुए। इसका एक महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि इन जमींदारों की कृषिगत आय में होने वाली वृद्धि औद्योगिक क्षेत्र में निवेशित की जाने लगी। साथ ही इंग्लैंड में कृषि कार्यों में आधुनिक कृषि यंत्रों के व्यापक प्रयोग से कृषिगत मजदूरों में बेरोजगारी की समस्या की उत्पन्न हो गई। अतः बेरोजगार हुए कृषक मजदूर बड़े-बड़े कारखाना प्रणाली हेतु सस्ते श्रमिक का बेहतर विकल्प साबित हुए और इस रूप में वहां औद्योगिक क्रांति को बढ़ावा मिला।

4. **जनसंख्या में वृद्धि** : 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इंग्लैंड की जनसंख्या में होने वाली तीव्र वृद्धि ने भी औद्योगीकरण को बढ़ावा दिया। जनसंख्या में वृद्धि के फलस्वरूप वस्तुओं की मांग में वृद्धि हुई जिससे उत्पादन क्षमता में भी वृद्धि हुई।
5. **पूंजी की उपलब्धता** : औद्योगिक विकास हेतु पूंजी की पर्याप्त उपलब्धता एक अनिवार्य कारक है। इस समय इंग्लैंड में विदेशों से अधिकाधिक मात्रा में धन का आगमन हुआ। इस संबंध में दास व्यापार, सामुद्रिक लूटमार, अमेरिका तथा भारतीय लूट से लाए गए धन का निवेश बड़े-बड़े कारखानों को स्थापित करने में किया गया।
6. **औपनिवेशिक विस्तार** : विभिन्न यूरोपीय देशों के व्यापार वृद्धि के क्रम में उपनिवेश स्थापित करने की प्रक्रिया शुरू हुई। इंग्लैंड इस मामले में अग्रणी रहा कि विश्व के प्रत्येक कोने में इसके उपनिवेश थे। इन उपनिवेशों में उपलब्ध कच्चे माल का प्रवाह इंग्लैंड की ओर तथा इंग्लैंड स्थित उद्योगों में निर्मित माल का प्रवाह एक बाजार के रूप में इन उपनिवेशों में होता था। फलतः औद्योगीकरण को प्रोत्साहन मिला।
7. **मजबूत सामुद्रिक शक्ति** : सामुद्रिक शक्ति की दृष्टि से इंग्लैंड एक अग्रणी यूरोपीय देश का उदाहरण प्रस्तुत कर रहा था। युद्ध की स्थिति में भी इंग्लैंड अपनी सुदृढ़ एवं विशाल जल सेना के आधार पर अपने व्यापार को प्रभावी रूप से संचालित करने में सक्षम था। अन्य देशों के पास तुलनात्मक रूप से मजबूत सामुद्रिक शक्ति नहीं थी। यही वह निर्णायक कारक था जिसके बल पर इंग्लैंड एक विशाल औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित करने में सफल रहा।
8. **फ्रांसीसी क्रांति का योगदान** : क्रांति से पूर्व फ्रांस की गणना एक समुद्र औद्योगिक एवं आर्थिक दृष्टि से संपन्न देशों में होती थी परन्तु क्रांति ने इस स्थिति को प्रभावित किया। अभी तक जो भी उपनिवेश अपनी आवश्यकता की वस्तुएं फ्रांस से मंगाते थे अब उन्होंने इंग्लैंड से मंगाने शुरू कर दिए। इस बदली हुई परिस्थितियों ने इंग्लैंड को अपनी व्यापारिक गतिविधियां विश्व के विभिन्न भागों में तीव्र करने हेतु प्रोत्साहित किया।
9. **यांत्रिक आविष्कार** : इस समय इंग्लैंड के विभिन्न क्षेत्रों में हुई वैज्ञानिक प्रगति एवं यांत्रिक आविष्कार ने औद्योगिक क्रांति को नयी दिशा प्रदान की तथा उसे विश्वव्यापी स्वरूप प्रदान किया। जॉन के (John Kay) नामक प्रसिद्ध अंग्रेज ने 1773 ई. में कपड़ा बुनने के लिए 'फ्लाइंग शटल' नामक मशीन का आविष्कार किया, जिसकी सहायता से कम समय में अधिकाधिक कपड़ों की बुनाई संभव हो पायी। इस आविष्कार के फलस्वरूप काते गए सूत की मांग में तीव्रगामी वृद्धि हुई जिससे इस क्षेत्र में नए आविष्कार की आवश्यकता महसूस की गई। इसकी पूर्ति 'जेम्स हारग्रीव्स' द्वारा 'स्पिनिंग जेनी' नामक मशीन के आविष्कार से संभव हो पायी। इस मशीन की सहायता से आठ गुना अधिक सूत उतने ही परिश्रम से काते जा सकते थे, जितने कि अभी तक प्रचलित पद्धति, से काता जाता था। रिचर्ड आर्कराइट द्वारा 'वाटरफ्रेम' नामक मशीन की सहायता से सूत कातने के और भी उन्नत मशीन विकसित किए गए। इस मशीन को चलाने हेतु जल ऊर्जा का उपयोग किया जाता था। इस दिशा में सेम्युलन क्रॉम्पटन द्वारा आविष्कृत 'स्पिनिंग म्यूल' एडवर्ड कार्टराइट द्वारा आविष्कृत 'पावर लूम' नामक मशीन की सहायता से वस्त्र उद्योग में सूत की कटाई एवं बुनाई कार्यों में क्रांतिकारी परिवर्तन आया और इस परिवर्तन ने इंग्लैंड में औद्योगीकरण को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया। सूती वस्त्र उद्योग की व्यापक उन्नति के परिणामस्वरूप उसकी रंगाई की आवश्यकता को ध्यान में रखकर विभिन्न रसायन उद्योग विकसित हुए। इस संबंध में 'शीले' द्वारा एक महत्वपूर्ण रसायन क्लोरीन की खोज हुई जिसके माध्यम से कम समय में ही सूत की रंगाई का काम संभव हो पाया। जेम्स वाट द्वारा भाप इंजन का आविष्कार किया गया जो कि एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। इसके माध्यम से उद्योगों हेतु कम खर्चे पर ही सुरक्षित ईंधन की पूर्ति संभव हो सकी। इस आविष्कार ने औद्योगिक क्षेत्र में क्रांति उत्पन्न कर दी।

कच्चे माल को औद्योगिक स्थलों पर पहुंचाना एवं उत्पादित माल को बाजार तक पहुंचाना परंपरागत परिवहन व्यवस्था से संभव नहीं हो पा रहा था। अतः परिवहन के वैसे नवीन साधन जो तीव्रगामी एवं सृष्टि हों, की आवश्यकता महसूस की गई। इसी आवश्यकता के तहत कंकड़-पत्थर एवं तारकोल के मिश्रण से सड़क निर्माण की नवीन विधियों का आविष्कार हुआ। सड़क मार्ग के साथ-साथ आंतरिक व्यापार को बढ़ावा देने हेतु नहरों की विशाल शृंखला का निर्माण कार्य प्रारंभ हुआ तथा इंग्लैंड के लंदन, मैनचेस्टर आदि औद्योगिक नगर इन नहरों द्वारा एक-दूसरे से जुड़ गए। परिवहन साधनों के रूप में वाष्प चलित इंजन का विशिष्ट महत्त्व रहा। इसके उपयोग से स्टीमरों एवं जहाजों की गति में तीव्रता आई। भाप-इंजनों द्वारा लोहे की पटरियों पर रेलगाड़ियों के सफल संचालन भी सराहनीय रहे। इन सभी यंत्रिक आविष्कारों से परिवहन क्षेत्र में क्रांति आई, जिसने औद्योगिकरण को प्रोत्साहन दिया।



औद्योगिकरण को पर्याप्त सहायता देने में अत्याधुनिक संचार माध्यम संबंधी आविष्कार भी विशेष महत्त्व रखते हैं। टेलीफोन एवं टेलीग्राफ के आविष्कार ने संचार क्षेत्र में क्रांति ला दी। इस दिशा में इंग्लैंड एवं फ्रांस के समुद्र तटों के मध्य टेलीग्राफ के तार सफलतापूर्वक बिछाये गए तथा महासागर में टेलीग्राफ लाइन बिछाकर संसार के लगभग सभी देशों के बीच संपर्क सूत्र कायम किया गया।

तत्कालीन संदर्भ में अगर हम देखें तो उस समय किसी अन्य यूरोपीय देशों में ये सभी सुविधाएं प्राप्त नहीं थीं, जैसे-कुछ देशों में पूंजी पर्याप्त न थी, कहीं प्राकृतिक संसाधन नहीं थे तो कहीं राजनीतिक/प्रशासनिक पद्धति अनुकूल नहीं थी। चूंकि इंग्लैंड में 1688 की 'गौरवपूर्ण क्रांति' के पश्चात् सुव्यवस्थित राजनीतिक/प्रशासनिक व्यवस्था स्थापित हो चुकी थी, अतः इसका लाभ इंग्लैंड को मिला। अन्य यूरोपीय देशों में इस समय भूमि पर आधारित अर्थव्यवस्था थी, जहां राजनीतिक शासन पद्धति थी। तथा जर्मनी एवं इटली जैसे देश तो संगठित भी नहीं थे।

अतः हम कह सकते हैं कि इन विभिन्न कारणों ने विभिन्न यूरोपीय देशों के बीच इंग्लैंड को विशिष्ट स्थिति में ला खड़ा किया और इस रूप में इंग्लैंड औद्योगिक क्रांति का अगुआ बना। औद्योगिक क्रांति के संबंध में इंग्लैंड अन्य देशों का पथ-प्रदर्शक भी बना क्योंकि इंग्लैंड में यह परिवर्तन किसी दूसरे देश की सहायता के बिना हुआ इसी आधार पर इंग्लैंड को 'विश्व का उद्योगशाला' कहा गया है।

औद्योगिक क्रांति के परिणाम/प्रभाव

(Results & Effects of Industries Revolution)

औद्योगिक क्रांति विश्व इतिहास की अत्यंत महत्वपूर्ण घटना मानी जाती है। इस क्रांति ने परंपरागत पद्धति को गंभीर रूप से प्रभावित किया। जहां पहले उत्पादन पद्धति मानव श्रम पर निर्भर थी वहीं इस क्रांति के फलस्वरूप मानवीय श्रम के स्थान पर मुख्यतः मशीन प्रणाली का विकास हुआ। इस युक्ति के कारण उत्पादन के स्तर में मात्रात्मक एवं गुणात्मक वृद्धि संभव हो सकी। कच्चे माल की प्राप्ति एवं बाजार की आवश्यकता ने विभिन्न यूरोपीय देशों को औपनिवेशिक साम्राज्यवाद के लिए प्रेरित किया। परंपरागत रूप से यूरोप का तत्कालीन सामाजिक ढांचा जिसमें सामंत वर्ग मुख्यतः सामाजिक प्रतिष्ठा एवं आर्थिक समृद्धि के उच्च सोपान पर थे, की जगह नवीन पूंजीपति वर्ग ने ले ली। इन पूंजीपति वर्गों में पूंजी का अधिकाधिक संकेन्द्रण होने तथा उस पूंजी का औद्योगिक इकाइयों में निवेश होने से एक नवीन व्यवस्था ने जन्म लिया जिससे श्रमिकों का शोषण होने लगा। श्रमिकों ने शोषण से मुक्ति के लिए अनेक कदम उठाए जो श्रमिक आंदोलनों के रूप में प्रकट हुए।

औद्योगिक क्रांति ने मानव जीवन के विभिन्न पहलुओं - सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि को गंभीर रूप से प्रभावित किया, जिसे हम निम्नलिखित बिंदुओं में प्रस्तुत कर सकते हैं-

1. **कारखाना पद्धति का उद्भव और विकास :** औद्योगिक क्रांति से पूर्व वस्तुओं का उत्पादन कुटीर उद्योगों के अंतर्गत होता था जिससे कारीगरों द्वारा अपने घरों में ही अल्प पूंजी के विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन होता था अर्थात् हस्तकारी विद्या का प्रचलन था। औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप परंपरागत हस्तकारी प्रणाली पर तीव्र आघात पहुंचा। अब हस्तकारी के स्थान पर मशीनों एवं विभिन्न उन्नत यंत्रों की बाढ़ सी आ गई। अब इन मशीनों एवं यंत्रों को चलाने हेतु अधिक स्थान की आवश्यकता महसूस होने लगी, क्योंकि घरों में इसका उपयोग संभव नहीं था। अतः विस्तृत उत्पादन स्थल के रूप में कारखाना पद्धति का विकास हुआ।



भौगोलिक खोजों, व्यापारिक लाभों, वैज्ञानिक अनुसंधानों तथा यांत्रिक उपलब्धियों आदि के फलस्वरूप एक नवीन औद्योगिक परिदृश्य सामने आया। परिणामतः वस्तुओं के उत्पादन की युक्ति सस्ती, मात्रात्मक एवं गुणात्मक वृद्धि के साथ सामने आई। वास्तव में इस बदली हुई स्थिति में परंपरागत स्वतंत्र एवं छोटे स्तर के कारीगर इस नई उत्पादन प्रणाली का सामना करने में असमर्थ हो गए और इनका परंपरागत धंधा ठप्प हो गया। इस स्थिति में उनमें बेरोजगारी की समस्या हो गई तथा अब वे इन कारखानों में वेतनभोगी श्रमिक के रूप में कार्य करने हेतु मजबूर हो गए और इस रूप में इनका स्वतंत्र अस्तित्व समाप्त हो गया।

2. **शहरीकरण** : औद्योगिकरण की प्रक्रिया में उत्पादन केन्द्र के रूप में लोहा एवं कोयला क्षेत्रों, व्यापारिक केन्द्रों तथा बंदरगाहों के समीप शहरों की स्थापना की प्रक्रिया शुरू हुई। छोटे स्तर पर कुटीर उद्योगों के पतन के फलस्वरूप जनसंख्या का स्थानांतरण इन केन्द्रों में होने लगा क्योंकि वहां रोजगार के अवसर मौजूद थे। जनसंख्या का आव्रजन इन शहरी स्थानों की तरफ होने से यहां जनसंख्या में वृद्धि होने लगी। इस प्रक्रिया से देश के विभिन्न भागों में जनसंख्या घनत्व में भी व्यापक परिवर्तन आने लगा। जो क्षेत्र अभी तक उपयोग में नहीं आ सके थे उनका महत्व बढ़ गया। उदाहरण के रूप में देखा जाए तो औद्योगिक क्रांति से पूर्व इंग्लैंड के दक्षिण-पूर्वी भाग में कृषि की प्रधानता थी और वहां जनसंख्या का जमाव भी अधिक था जबकि इसके उत्तर-पश्चिमी भाग की जनसंख्या अपेक्षाकृत कम थी, परन्तु इन क्षेत्रों में उद्योगों की स्थापना ने सभी समीकरण को बदल दिया। इस भाग में बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना से जनसंख्या में भारी बढ़ोतरी हुई। हालांकि इन शहरों का विकास किसी निश्चित योजना के आधार पर नहीं हुआ। फलतः अनेक शहरी एवं स्वास्थ्य संबंधी समस्याएं भी उत्पन्न हुईं। तत्कालीन शहरी व्यवस्था ने मानव जीवन शैली, रहन-सहन, खान-पान आदि पहलुओं को प्रभावित किया। औद्योगिक केन्द्रों के आस-पास कच्ची बस्तियों के विस्तार से वहां अत्यधिक गंदगी के कारण महामारी का प्रकोप बढ़ने लगा और इस तरह मानव स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

3. **सामाजिक संरचना में परिवर्तन** : औद्योगिक क्रांति से पूर्व यूरोपीय समाज मुख्यतः तीन वर्गों में विभाजित था-कुलीन, पादरी एवं सर्वसाधारण। राजा राजपरिवार के अन्य सदस्यों के बाद क्रमशः कुलीन एवं पादरी वर्ग का समाज में सर्वोच्च स्थान था। भूमि एवं प्रशासन के क्षेत्र में इनका लगभग एकाधिकार था जबकि सर्वसाधारण की स्थिति अत्यंत ही दयनीय थी और दोनों वर्गों द्वारा इनका विभिन्न तरीके से शोषण किया जाता था। औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप समाज की इस वर्ग संरचना में व्यापक परिवर्तन आया। गौरतलब है कि औद्योगिक क्रांति से पूर्व अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार कृषि था परन्तु अब अर्थव्यवस्था के रूप में कृषि का महत्व गौण होता गया एवं उसकी जगह उद्योगों का अस्तित्व कायम हुआ। औद्योगिकरण से पूंजीपति, उद्योगपति एवं मिल-मालिक के रूप में नये वर्ग उभरकर सामने आए। इन वर्गों को पूंजीवादी वर्ग (व्यापारी और पूंजीपति), मध्यम वर्ग (कारखानों के निरीक्षण, दलाल, ठेकेदार, इंजीनियर, वैज्ञानिक, वकील आदि) तथा श्रमिक वर्ग में विभक्त किया जा सकता है। इन विभिन्न वर्गों के उदय से सामाजिक असंतुलन की स्थिति उत्पन्न हो गई। नए पूंजीपति वर्ग ने न सिर्फ आर्थिक क्षेत्र में महत्ता स्थापित की वरन् राजनीतिक क्षेत्र में भी उच्च स्तर को प्राप्त किया। मध्यम वर्ग अत्यंत ही महत्वाकांक्षी था जिसकी गतिविधियां बहुआयामी थीं तथा अपने हितों की रक्षा हेतु वह श्रमिकों के साथ उच्च वर्ग को युक्तियुक्त नियंत्रण में रखने का प्रयास करता था। श्रमिक वर्ग के पास धन का नितांत अभाव था तथा पूंजीपतियों द्वारा इस वर्ग का शोषण विभिन्न ढंग से किया जाता था।

औद्योगिक क्रांति ने तत्कालीन समाज के ताने-बाने पर आधारित सामाजिक संबंधों को प्रतिकूल रूप से प्रभावित किया। उदाहरण के लिए संयुक्त परिवार की प्रथा टूटने लगी। मानव-मानव के बीच संबंध का स्थान अब मानव-मशीन ने ले लिया, लोगों के नैतिक स्तर में व्यापक गिरावट आई आदि।

4. **साम्राज्यवाद का उदय** : औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप विभिन्न देशों में साम्राज्यवादी प्रवृत्ति विकसित हुई, ताकि उद्योगों के लिए कच्चे माल की आपूर्ति का स्रोत, उत्पादित वस्तुओं की बिक्री हेतु बाजार तथा औद्योगिकरण के फलस्वरूप तीव्र गति से बढ़ती जनसंख्या को अन्यत्र बसाने की आवश्यकता पूरी हो सके। चूंकि इन आवश्यकताओं की पूर्ति साम्राज्यवाद के माध्यम से ही संभव था, अतः विभिन्न यूरोपीय देशों द्वारा इस युक्ति का अवलंबन किया गया। विभिन्न यूरोपीय देशों द्वारा अमेरिका, अफ्रीका तथा एशिया महादेशों में अनेक ऐसे क्षेत्रों की खोज की गई जहां इन उद्योगों हेतु कच्चे माल पर्याप्त मात्रा में थे, साथ



ही ये क्षेत्र इन उद्योगों से उत्पादित माल हेतु एक उपयुक्त बाजार भी हो सकते थे। इस दिशा में यातायात एवं संचार के नवीन साधनों ने साम्राज्यवाद को तीव्र गति प्रदान की और इन क्षेत्रों पर विभिन्न यूरोपीय देशों का अधिकार होने लगा। साम्राज्यवाद की आड़ में विभिन्न यूरोपीय देशों के मध्य परस्पर, प्रतियोगिता बढ़ने लगी। जिसकी चरम परिणति साम्राज्यवादी देशों के मध्य अनेक युद्धों के रूप देखने को मिली। प्रारंभ में इंग्लैंड, फ्रांस, बेल्जियम और हॉलैंड जैसे यूरोपीय देशों ने विश्व के विभिन्न भागों में अपने उपनिवेश स्थापित कर लिए थे। इटली व जर्मनी के एकीकरण एवं जापान के एक महान शक्ति के रूप में उदय के पश्चात इन देशों के द्वारा भी इस दिशा में प्रयास किए गए। इस प्रकार औपनिवेशिक क्षेत्र में इन विभिन्न देशों की महत्वाकांक्षाओं एवं प्रतियोगी भावनाओं ने परस्पर घृणा एवं वैमनस्य को बढ़ावा दिया।

5. **पूंजीवाद का विकास :** औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप पूंजीवादी के विकास से एक नये अध्याय की शुरुआत हुई। इस क्रांति से पूर्व यूरोप में पूंजी का निवेश सामान्यतः भूमि में ही किया जाता था, परन्तु पुनर्जागरण काल में हुए भौगोलिक खोजों के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आए विभिन्न व्यापारिक कंपनियों द्वारा बैंकों की स्थापना की गई। ये बैंक व्यक्तिगत पूंजी की सुरक्षा हेतु एक मानक स्थान थे जहां पूंजी जमा करने के एवज में अतिरिक्त धन की प्राप्ति होती थी। ये व्यापारिक बैंक इन पूंजी का निवेश अपने व्यापार को और अधिक विस्तार देने में भी करते थे। यह व्यापारिक पूंजीवाद का आरंभिक चरण था। 17वीं एवं 18वीं शताब्दी के बीच व्यापारिक पूंजीवाद का तीव्र विकास हुआ। परन्तु 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध एवं 19वीं शताब्दी में पूंजीवाद का स्वरूप 'औद्योगिक पूंजीवाद' का हो गया। औद्योगिकरण हेतु अधिक पूंजी की आवश्यकता स्वाभाविक थी क्योंकि नई मशीनों के मूल्य बहुत ही अधिक थे। इसके अतिरिक्त मजदूरों को दी जाने वाली मजदूरी के भुगतान के लिए भी धनराशि की जरूरत थी। अभी तक कृषि, व्यापार एवं वाणिज्य के क्षेत्र में जो पूंजी निवेश होती थी वह किसी व्यापक स्तर पर नहीं होकर लगभग सीमित स्तर पर ही होती थी परन्तु औद्योगिक क्रांति ने उद्योगों की स्थापना, संचालन एवं उसकी प्रगति हेतु वृद्ध पूंजी की आवश्यकता को जन्म दिया। इस आवश्यकता की पूर्ति पूंजीपति एवं उद्योगपति द्वारा अकेला ही कर पाना मुश्किल था। फलतः विभिन्न आकर्षित ब्याज, बॉण्ड एवं प्रमाणपत्र जारी कर समाज के विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों से उनकी बचत की पूंजी के रूप में इस्तेमाल कर औद्योगिक विकास को निश्चित गति दी गई इसके अलावा विभिन्न यूरोपीय देशों द्वारा पूंजी की आवश्यकता की पूर्ति हेतु उपनिवेशवादी/साम्राज्यवादी नीति को अपनाना पड़ा ताकि विभिन्न उपनिवेशों से पूंजी का एक निश्चित प्रवाह हो सके। इसलिए तत्कालीन परिप्रेक्ष्य में पूंजीवाद एवं साम्राज्यवाद को जुड़वा भाई भी कहा गया है।

6. **श्रमिक समस्या का उदय :** औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप श्रमिकों के सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति पर गंभीर प्रभाव पड़ा। जहां एक ओर औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप वस्तुओं के उत्पादन में मात्रात्मक एवं गुणात्मक वृद्धि हुई, यातायात एवं संचार साधनों के नए आविष्कार से विश्व के विभिन्न देशों की दूरियां कम हुई तथा इस रूप से भूमंडलीकरण को बढ़ावा मिला, सभी देशों की राष्ट्रीय संपत्ति में होने वाली वृद्धि के फलस्वरूप आर्थिक रूप से संपन्नता के युग का पदार्पण हुआ, वहीं श्रमिक वर्ग औद्योगिक क्रांति के इन लाभों से काफी हद तक वंचित रहे। औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप उद्योगपतियों द्वारा संसाधन के उपलब्ध साधनों को हस्तगत कर लिया गया तथा श्रमिक अब इन उद्योगपतियों के दया पर आश्रित हो गए क्योंकि इन वर्गों के समक्ष परंपरागत व्यवसाय के समाप्त हो जाने के बाद यही एक मात्र विकल्प शेष रह गया था। कि वह कारखानों में वेतनभोगी श्रमिक के रूप में कार्य करें। श्रमिकों की कम मजदूरी तथा कार्य के अधिक घंटों से संबंधित शर्तें अत्यंत ही अमानवीय थीं तथा श्रमिकों को यंत्र समझकर उनसे अधिकाधिक कार्य लिया जाता था। 1800 ई. में ब्रिटिश संसद द्वारा श्रमिक संघ विरोधी कानून के नवीनीकरण ने श्रमिक हितों की पूर्ण अनदेखी की। श्रमिकों की एक अन्य समस्या जो और भी गंभीर थी वह थी- बरोजगारी की समस्या। श्रमिकों को पूरे वर्ष कारखानों में रोजगार के पूर्ण अवसर नहीं मिल पाते थे। फलतः इन श्रमिकों के सामाजिक पतन की प्रक्रिया प्रारंभ हो गई। बच्चों एवं महिलाओं को कारखानों में नियोजित करने से शारीरिक एवं मानसिक विकार के साथ-साथ स्वास्थ्य संबंधी समस्याएं भी उत्पन्न हो गई। श्रमिक की तीसरी गंभीर समस्या आवास संबंधी थी। चूंकि बाहर के क्षेत्रों से कारखानों में काम करने हेतु श्रमिकों का व्यापक आब्रजन हुआ था। ये श्रमिक इन कारखानों के समीपवर्ती क्षेत्रों में ही आकर बस गए थे। यहां स्थापित विभिन्न बस्तियों की स्थिति अत्यंत ही दयनीय थीं। ये बस्तियां किसी



योजना के आधार पर नहीं बसी थीं वरन् अव्यवस्थित रूप से अबाध गति से बसती गयीं। इनमें सूर्य को रोशनी, स्वच्छ हवा व शुद्ध पेयजल का अभाव था। संकरी सड़के एवं गलियां तथा सघन मकान की स्थिति के कारण गंदगी एवं संक्रामक रोगों का बोलबाला था। इस नारकीय स्थिति में श्रमिकों की अकाल मृत्यु आम बात हो गई थी। इन श्रमिकों के साथ एक बड़ी समस्या यह थी कि ये सभी श्रमिक भिन्न-भिन्न क्षेत्रों से काम की तलाश में इन औद्योगिक शहरों में आकर बसे थे, जिसमें आपस में कोई परिचय नहीं था। अशिक्षित तथा ग्रामीण पृष्ठभूमि से संबंधित होने के कारण वे इन पूंजीपतियों के विरुद्ध साहसपूर्ण कदम उठाने की स्थिति में नहीं थे। वे अपने हितों के संरक्षण हेतु संगठन नहीं बना सकते थे क्योंकि इस पर प्रतिबंध था। अपनी समस्याओं के समाधान हेतु उनके पास कोई रास्ता नहीं था।

आमतौर पर हम कह सकते हैं कि औद्योगिक क्रांति का लाभ मुख्यतः पूंजीपति वर्ग को ही मिला तथा श्रमिक वर्गों की स्थिति और भी दयनीय हो गई।

7. समाजवादी विचारधारा : उत्पादन प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण अंग होने के बावजूद भी श्रमिक वर्ग औद्योगिक क्रांति के लाभों से वंचित था और उसकी स्थिति और भी गंभीर होती जा रही थी। वहीं पूंजीपति वर्ग अधिकतम लाभ की स्थिति में थे। इस तरह एक वर्ग अपनी पूंजी के निवेश के बल पर लाभ का मुख्यतः अधिकतम भाग प्राप्त कर रहा था। वहीं श्रमिक वर्ग अत्यंत ही कम मजदूरी पर श्रम कर वस्तुओं का उत्पादन करता था और लाभ की स्थिति से भी वंचित किया जाता था। फलतः विरोधभासी स्थिति को बढ़ावा मिला। इसी क्रम में कुछ विचारकों द्वारा श्रमिकों की दयनीय दशा में सुधार करने हेतु, नई विचारधारा का प्रतिपादन किया गया, जिसे 'समाजवादी विचारधारा' का नाम दिया गया। यह विचारधारा इस बात का समर्थन करती थी कि उत्पादन के साधनों पर किसी एक वर्ग का अधिकार न होकर पूरे समाज का अधिकार होना चाहिए। इन विचारकों में रॉबर्ट ओवेन, सेन्ट साइमन एवं लूई ब्लॉ के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में एक नवीन विचारधारा का प्रतिपादन किया। इन विचारकों द्वारा विभिन्न यूरोपीय देशों में प्रचलित आर्थिक व्यवस्था की तीव्र आलोचना की गयी और उद्योगों के संगठन तथा पूंजीपति श्रमिक संबंधों के विषय में नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया। कार्ल मार्क्स एवं एंजल्स ने 1848 ई. में कम्युनिस्ट घोषणापत्र जारी कर वैज्ञानिक समाजवाद की नींव डाली। इनके द्वारा औद्योगिक श्रमिकों को 'सर्वहारा' की संज्ञा दी गई, जिनका समस्त जीवन बेडियों से बंधा रहता है और जिनके पास खोने के लिए कुछ नहीं लेकिन पाने के लिए समस्त संसार होता है। इसी में कार्ल-मार्क्स द्वारा दुनिया के सभी औद्योगिक श्रमिकों को एकजुट होने की अपील की गई थी।

8. नवीन राजनैतिक विचारधारा का उदय : औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप कुछ नवीन राजनैतिक विचारधाराओं को जन्म एवं विकास हुआ। इसमें 'लैसेज फेयर' अथवा आर्थिक उन्मुक्तवाद एक प्रमुख विचारधारा थी। इस सिद्धान्त के अनुसार आर्थिक क्रियाकलापों में पूंजीपतियों की पूर्ण स्वतंत्रता एवं सरकार के किसी तरह से हस्तक्षेप पर निर्बन्धन था। 1776 ई. में एडम स्मिथ की युगान्तकारी पुस्तक 'वेल्थ ऑफ नेशन्स' प्रकाशित हुई, जिसमें वाणिज्यवाद की नियामक एवं एकाधिकारपरक अवधारणाओं की तीव्र आलोचना की गई थी क्योंकि यह तत्कालीन आर्थिक माहौल के लिए अप्रासंगिक होता जा रहा था। इस तरह की स्थिति में आर्थिक क्षेत्र में सरकार की भूमिका यथासंभव कम से कम होने की बात तय की गई। सरकार की भूमिका को जान-माल की सुरक्षा, कानून-व्यवस्था, न्यायालय आदि क्षेत्रों तक ही सीमित रखने की वकालत की गई। सिर्फ व्यवसाय ही नहीं, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि मामलों में भी शासनतंत्र का हस्तक्षेप करने की जरूरत से इंकार करने की बात निश्चित की जाने लगी। नवोदित पूंजीपति वर्ग में यह आर्थिक दर्शन काफी लोकप्रिय हुआ।

अंततः हम कह सकते हैं कि औद्योगिक क्रांति न सिर्फ वस्तुओं के उत्पादन में मात्रात्मक एवं गुणात्मक वृद्धि से संबंधित थी वरन् इसने मानव-जीवन के समस्त पहलुओं को प्रभावित किया। इससे प्रभावित होकर साम्राज्यवाद, पूंजीवाद एवं समाजवाद जैसी विचारधारा ने भी जोर पकड़ा।



2. अमेरिका क्रांति (America Revolution)

सामान्य परिचय (General Introduction)

1492 ई. में स्पेन निवासी कोलंबस द्वारा अमेरिका की खोज की गई। विकास की अपार संभावनाओं के कारण इस क्षेत्र विशेष में यूरोपीय देशों की दिलचस्पी बढ़ने लगी। 18वीं शताब्दी के मध्य तक उत्तरी अमेरिका के अटलांटिक तट के समीपवर्ती क्षेत्रों में ब्रिटेन के अधीन 13 उपनिवेश अस्तित्व में आ चुके थे। ये विविध उपनिवेश एक मिश्रित संस्कृति का आदर्श प्रस्तुत कर रहे थे, जिसमें ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, हॉलैंड, पुर्तगाल आदि देशों के भूमिहीन किसान, धार्मिक स्वतंत्रता के आकांक्षी, व्यापारी एवं बिचौलिए आदि जाकर बस गए थे। भौगोलिक दृष्टि से अमेरिका का उत्तरी भाग मत्स्य पालन हेतु, मध्यवर्ती भाग शराब तथा चीनी उद्योग हेतु एवं दक्षिणी भाग कृषि कार्य के लिए समृद्ध क्षेत्र था। यहां अंग्रेज जमींदारों के अधीन बड़े-बड़े कृषि फार्म थे, जिसमें अफ्रीकी गुलामों की सहायता से खेती (विशेषता तंबाकू एवं कपास की खेती) की जाती थी।

अमेरिका स्थित कुल 13 ब्रिटिश उपनिवेशों के प्रत्येक उपनिवेश में शासन का संचालन गवर्नर और उसकी कार्यकारिणी समिति के अधीन विधानसभा द्वारा होता था। गवर्नर ब्रिटिश सरकार के प्रत्यक्ष प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता था। गवर्नर की नियुक्ति ब्रिटिश सत्ता द्वारा होती थी एवं उसकी कार्यकारिणी समिति में ब्रिटिश ताज द्वारा मनोनीत सदस्य होते थे जबकि विधानसभा का गठन विशिष्ट मतदाताओं द्वारा निर्वाचन के फलस्वरूप होता था, जो मुख्य रूप से स्थानीय विषयों से संबंधित कानून के निर्माण के साथ-साथ कर (Tax) भी लगती थी। अंततः इस शासन व्यवस्था में अंतिम और निर्णायक नियंत्रण ब्रिटिश सत्ता का ही होता था। वास्तव में ब्रिटिश हितों को ही प्राथमिकता दी जाती थी।

18वीं शताब्दी में इन उपनिवेशों के संबंध में कुछ आपत्तिजनक कानूनों व अन्य परिस्थितियों ने उपनिवेश की जनता में असंतोष एवं घृणा को बढ़ावा दिया तथा जनता इस शोषणकारी औपनिवेशिक सत्ता के विरुद्ध उठ खड़ी हुई और अंततः उपनिवेशवासियों का स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित हुआ।

अमेरिकी क्रांति के कारण (Causes of America Revolution)

अमेरिकी क्रांति के लिए आर्थिक मामलों में ब्रिटेन की औपनिवेशिक नीति काफी हद तक जिम्मेदार रही। ब्रिटेन द्वारा स्वहित को विशेष प्राथमिकता दी गई उपनिवेश के हितों की पूर्ण अनदेखी की गई। 1651 ई. में 'नेविगेशन एक्ट' के तहत उपनिवेशों के व्यापार करने हेतु ब्रिटेन और आयरलैंड के अतिरिक्त किसी दूसरे देश के जहाजों के प्रयोग पर प्रतिबंध लगा दिया गया। व्यापारिक अधिनियम के तहत प्रावधान था कि इन उपनिवेशों में उत्पादित होने वाले कपास, चीनी एवं तंबाकू का निर्यात सिर्फ ब्रिटेन को ही किया जा सकता था। दूसरे शब्दों में, यह व्यवस्था उपनिवेशों के हितों के विपरीत ब्रिटेन के हितों के कहीं ज्यादा समीप थी। इस आड़ में इन वस्तुओं की कीमत कम-से-कम मूल्य पर निर्धारित की जाती थी, जो कि अन्यायपूर्ण था। इसके अतिरिक्त ब्रिटेन में निर्मित सामान या तो बिना तटकर या अत्यंत ही कम तटकर चुका कर उपनिवेशों में उतारा जाता था जबकि अन्य देशों के सामान पर भारी तटकर लगाया जाता था। उपनिवेश की जनता को इससे भी भारी परेशानी होती थी। इतना ही नहीं, इन उपनिवेशों को सूती वस्त्र एवं लौह उद्योग स्थापित करने की पूर्ण रूप से मनाही थी तथा इस आवश्यकता की पूर्ति ब्रिटेन से आयातित वस्तुओं द्वारा ही किया जाता था। फलतः इस प्रवृत्ति ने ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति को जबर्दस्त बढ़ावा दिया और अमेरिका इसके विपरीत दृष्टिकोण से दोयम स्थिति में बने रहने के लिए अभिशप्त रहा।

अमेरिकी क्रांति को बढ़ावा देने में ब्रिटेन एवं फ्रांस के मध्य होने वाले सप्तवर्षीय युद्ध (1776-63 ई.) का भी विशेष महत्त्व है, जिसके फलस्वरूप कनाडा स्थित फ्रांसीसी उपनिवेशों पर ब्रिटेन का अधिकार हो गया। कनाडा पर ब्रिटिश अधिपत्य स्थापित हो जाने से परिस्थिति में व्यापक परिवर्तन आया, क्योंकि इस घटना से पूर्व अमेरिकावासियों को सदैव फ्रांसीसी खतरे की संभावना बनी रहती थी। यही कारण था कि इस मामले में उपनिवेशों में किसी न किसी रूप में ब्रिटेन के प्रति समर्थन की भावना रही, परन्तु सप्तवर्षीय युद्ध के परिणामस्वरूप जब कनाडा की ओर से फ्रांसीसी भय समाप्त हो गया तो इन उपनिवेशवासियों में स्वतंत्रता की भावना विकसित होने लगी।





ब्रिटिश प्रधानमंत्री ग्रिनविले के कुछ अनुचित कदमों ने उपनिवेशवासियों को भड़काने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। सप्तवर्षीय युद्ध के उपरान्त ग्रिनविले द्वारा अमेरिकी उपनिवेशवासियों की रक्षा हेतु सेना का गठन किया गया, जिसके लिए होनेवाले खर्च का लगभग 1/3 भाग उपनिवेशवासियों से ही वसूल करना था। एक अन्य उत्तेजक बात यह भी थी कि मिसिसिपी क्षेत्र रेड-इंडियंस (अमेरिकी मूल निवासी) के लिए सुरक्षित रख दी गई जबकि मुख्य रूप से प्रगतिशील आबादी जिसमें अंग्रेज सहित अन्य यूरोपीयन थे, उक्त क्षेत्रों में भी पहुंच स्थापित करना चाहते थे। इस कृत्य से इन आबादियों में ब्रिटिश प्रधानमंत्री के प्रति असंतुष्टि फैली। विदित है कि उपनिवेशों की आबादी मूलतः अंग्रेज जाति से ही भरी थी अर्थात् उपनिवेश की अधिकांश जनता अंग्रेज थी, परन्तु ब्रिटेन के प्रति असंतोष का मूल कारण दोनों के राजनीतिक एवं धार्मिक दृष्टिकोण में पर्याप्त अंतर का होना था। ध्यातव्य है कि ये अंग्रेज अपने मूल देश से बेहतर भविष्य तथा धार्मिक उत्पीड़न से निजात पाने के लिए यहां आए थे और ये अपना स्वतंत्र अस्तित्व चाहते थे। इसलिए रंग और रक्त एक होने के बावजूद भी दोनों में पर्याप्त अंतर था।

जिन घटनाओं ने अमेरिकी क्रांति हेतु तात्कालिक कारण की पृष्ठभूमि तैयार की उनमें स्टांप एक्ट, आयात कर एक्ट एवं बोस्टन की प्रसिद्ध चाय वाली घटना (बोस्टन टी पार्टी) की विशेष भूमिका रही। स्टांप एक्ट के तहत उपनिवेश के सभी सरकारी दस्तावेजों एवं कानूनी पत्रों पर सरकार द्वारा निर्धारित शुल्क का स्टांप लगाना अनिवार्य कर दिया गया। वास्तव में उपनिवेश की जनता इतनी जागरूक एवं स्वातंत्र्यप्रिय हो गई थी कि उसने इस ब्रिटिश कानून को अपने आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप माना। तथा ऐसा कानून जिसके निर्माण में उपनिवेशवासियों की कोई भूमिका नहीं थी, में अपने निर्णायक अधिकार जताने के लिए प्रसिद्ध “प्रतिनिधित्व नहीं तो कर नहीं” का नारा दिया। अंततः उपनिवेशवासियों के प्रबल विरोध के कारण स्टांप एक्ट शीघ्र ही समाप्त कर दिया गया। परन्तु उपनिवेशवासियों में तीव्र दोष उत्पन्न हो गया था। इसकी अगली कड़ी के रूप में अमेरिका में घृणित आयात-कर अधिनियम अस्तित्व में आया। अमेरिकी क्रांति की पृष्ठभूमि निर्माण में इसकी सशक्त भूमिका रही। नए आयात कर अधिनियम के तहत उपनिवेश में आनेवाली उपभोक्ता वस्तुएं जैसे चाय, कागज, शीशा आदि पर तट-कर लगाया गया। हालांकि व्यापक जन विरोध के दबाव में आकर ब्रिटिश सत्ता द्वारा आयात कर अधिनियम वापस ले लिया गया लेकिन चाय पर यह अधिनियम सरकार द्वारा बनाए रखा गया। चायपर बरकरार रखे गए तट-कर का उद्देश्य ब्रिटिश सत्ता द्वारा उपनिवेशों में सांकेतिक रूप से अपनी सर्वोच्चता साबित करना था, जिसे उपनिवेश की जनता किसी भी स्थिति में स्वीकार करने को तैयार नहीं थी। अंततः घटनाक्रम में ‘बोस्टन चाय पार्टी’ को जन्म दिया। जिसमें चाय से लदे ब्रिटिश जहाज को उपनिवेशों द्वारा उतारने से इंकार कर दिया गया। गौरतलब है कि 1773 के ‘चाय एक्ट’ के तहत अमेरिकी उपनिवेशों में चाय की आपूर्ति का एकमात्र अधिकार ब्रिटिश ईस्ट-इंडिया कंपनी के जिम्मे आ गया था। उपनिवेश की जनता ने इसे अपना राष्ट्रीय अपमान समझकर विरोध प्रदर्शन किए तथा ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध बोस्टन बंदरगाह पर चाय से लदे जहाज में भीषण तबाही मचाई। इस घटना के उपरान्त अमेरिकी स्वातंत्रता हेतु व्यापक कदम उठाए गए। उपनिवेश एवं ब्रिटेन के मध्य यह स्थिति युद्ध में बदल गई, जिसमें उपनिवेश की सेना का सेनापति जॉर्ज वाशिंगटन एवं ब्रिटिश सेनापति लॉर्ड कार्नवालिस था। अमेरिकी स्वातंत्रता के युद्धों में ‘लाफयेत’ के नेतृत्व में फ्रांसीसी सेना का भी सहायक योगदान रहा। निश्चित रूप से फ्रांस सप्तवर्षीय युद्ध के पश्चात् अपनी पराजय का बदला किसी न किसी रूप में ब्रिटेन से लेना चाहता था और यही कारण था कि फ्रांस ने ब्रिटेन के विरुद्ध अमेरिका को सहायता प्रदान की। अंततः 1718 ई. में ब्रिटिश सेनापति कार्नवालिस को आत्मसमर्पण करना पड़ा और 1783 की पेरिस संधि के तहत 13 अमेरिकी उपनिवेश की स्वातंत्रता को ब्रिटेन द्वारा स्वीकार कर लिया गया।

अमेरिकी क्रांति के परिणाम (Consequences of America Revolution)

अमेरिकी स्वातंत्रता युद्ध से पूर्व अमेरिका में 13 ब्रिटिश उपनिवेश थे, जो सभी एक-दूसरे से अलग-अलग थे किन्तु ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध सभी एकजुट हो गए। 1781 ई. में युद्ध की समाप्ति के पश्चात् 13 स्वतंत्र राज्यों ने संघ की स्थापना की तथा एक संघीय संविधान को स्वीकार किया। यह संविधान 1789 ई. में लागू हुआ और इस रूप में वहां गणतंत्र की स्थापना हुई, जो तत्कालीन विश्व की महान उपलब्धि थी। यह संसार का प्रथम लिखित संविधान था। हालांकि शुरुआत में इसमें सीमित मताधिकार था जो संपत्ति एवं धर्म संबंधित

कारकों से निश्चित होता था परन्तु कालान्तर में इन बाधाओं को दूर कर मताधिकार को सर्वव्यापी बना दिया गया। अमेरिकी संविधान में 'बिल ऑफ राइट्स' (अधिकार संबंधी अधिनियम) का प्रावधान किया गया जिसके अन्तर्गत अमेरिकी नागरिकों को भाषण, प्रेस, धर्म की स्वतंत्रता, कानून के समक्ष समानता आदि जैसे आवश्यक अधिकार प्रदान किए गए।

अगर अमेरिकी क्रांति के सामाजिक पक्ष पर पड़नेवाले प्रभावों को देखा जाए तो क्रांति के पश्चात् वहां प्रचलित उत्तराधिकार नियमों में परिवर्तन कर संपत्ति पर पुत्र एवं पुत्रियों को समान अधिकार प्रदान किया गया। क्रांति का एक अन्य महत्वपूर्ण प्रभाव दास प्रथा पर पड़ा। 1861 ई. में दासता की परंपरा को समाप्त घोषित किया जा सका।

अमेरिकी क्रांति के प्रभावस्वरूप ही इंग्लैंड की औपनिवेशिक नीतियों में व्यापक परिवर्तन आया, जैसे-उपनिवेशों के प्रति मातृभाव की भावना पर विशेष बल दिया गया। अमेरिका के इस 13 उपनिवेशों के हाथ से निकल जाने के फलस्वरूप इंग्लैंड द्वारा इसकी भरपाई ऑस्ट्रेलिया एवं न्यूजीलैंड में उपनिवेश की स्थापना कर दी गई।

अमेरिकी क्रांति का प्रत्यक्ष प्रभाव फ्रांस की राजनीति पर भी पड़ा। इस क्रांति में फ्रांस द्वारा अमेरिका को सैनिक एवं आर्थिक रूप से पूरी सहायता दी गई थी। स्वभाविक रूप से अमेरिका में हासिल स्वतंत्रता एवं तत्पश्चात् स्थापित गणतंत्रीय शासन का प्रभाव फ्रांस पर भी पड़ा। अमेरिकी आदर्श, राष्ट्रीयता, समानता एवं गणतंत्र का प्रभाव फ्रांसीसी जनमानस पर गहन रूप से पड़ा तथा फ्रांसीसी जनता ने इस आदर्श से अभिप्रेरित होकर फ्रांसीसी क्रांति में बढ़-चढ़कर भागीदारी की।

अमेरिकी क्रांति की व्यापक सफलता के पश्चात् विश्व राजनीति में संयुक्त राज्य अमेरिका के नाम से एक शक्ति अस्तित्व में आया। हालाँकि 1860 के दशक में अमेरिकी राज्यों में मुख्य रूप से दास प्रथा तथा पूंजीवाद के प्रश्न पर उत्तरी एवं दक्षिणी अमेरिकी राज्यों में लगभग चार वर्ष तक (1861-65) गृहयुद्ध चला। वस्तुतः उत्तरी राज्यों में औद्योगिकरण तीव्र था जबकि दक्षिणी राज्यों में कृषि व्यवसाय का विशेष प्रचलन था, जहां दासता की प्रथा स्पष्ट रूप से प्रचलित थी। अंततः तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन के अथक प्रयास से गृहयुद्ध की समाप्ति हो गई एवं दास प्रथा का निस्तारण हुआ और अमेरिका अपने वर्तमान स्वरूप में सामने आया। उत्तर के औद्योगिक पूंजी का प्रवाह एवं निवेश दक्षिणी क्षेत्रों में भी हुआ। इस तरह अमेरिका का समग्र रूप से औद्योगिकरण हुआ तथा इसने एक विकसित देश की पंक्ति में अपने को स्थापित किया।



3. फ्रांसीसी क्रांति (French Revolution)



सन् 1789 की फ्रांसीसी क्रांति फ्रांस की निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी राजनीतिक सत्ता के विरुद्ध एक क्रांति थी, जिसके मूल में असमानता और भेदभाव पर आधारित सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था विद्यमान थी। इस क्रांति ने संपूर्ण विश्व में स्वतंत्रता, समानता एवं बंधुत्व पर आधारित मापदंडों को प्रसारित किया।

फ्रांसीसी क्रांति के कारण (Causes of the French Revolution)

इंग्लैंड जैसे देश को छोड़कर संपूर्ण यूरोप में दैवी सिद्धान्तों पर आधारित निरंकुश एवं स्वेच्छापूर्ण शासन का प्रचलन था। फ्रांस के संबंध में यह व्यवस्था मुखर थी। फ्रांसीसी शासक लुई चौदहवां अपने आपको 'मैं ही राज्य हूँ' कहा करता था। राजनीतिक एवं प्रशासनिक पदों पर वंशानुगत आधार पर ही नियुक्ति होती थी जिस पर सामंत एवं पादरी वर्ग का एकाधिकार था। इस समय फ्रांस की राजनीतिक व्यवस्था अराजकता व भ्रष्टाचार जैसे तत्वों से आच्छादित थी।

अगर हम फ्रांस की तत्कालीन दशा की तुलना यूरोप के अन्य देशों से करें तो निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि फ्रांस की दशा अन्य यूरोपीय देशों से अधिक खराब नहीं थी, लेकिन साधारण जनता को बहुत कष्ट सहने पड़ रहे थे। आमतौर पर फ्रांसीसी समाज विशेषाधिकारप्राप्त एवं विशेषाधिकारहीन वर्गों में विभाजित था। विशेषाधिकारप्राप्त वर्ग के अन्तर्गत पादरी एवं अभिजात्य अथवा कुलीन वर्ग आते थे, जबकि विशेषाधिकारहीन वर्गों में किसान, मजदूर एवं मध्यवर्ग जैसे व्यापारी, लेखक, वकील, डॉक्टर, इंजीनियर आदि शामिल थे। सारांशतः फ्रांसीसी समाज तीन वर्गों-पादरी वर्ग, कुलीन वर्ग एवं किसान-मजदूर-मध्यवर्ग (व्यापारी तथा प्रबुद्ध वर्ग) में बंटा था। अब अगर हम इस विषय पर विचार करें कि फ्रांसीसी समाज के अन्तर्गत इन तीनों वर्गों की वास्तविक स्थिति कैसी थी तो हम पाएंगे कि समाज में प्रथम दो वर्ग-पादरी एवं कुलीन वर्ग तुलनात्मक रूप से कम जनसंख्या वाले थे, परन्तु उच्च प्रशासनिक पदों एवं सैन्य पदों पर अधिकांशतः इन्हीं की नियुक्ति होती थी। साथ ही ये दोनों वर्ग करों की जिम्मेदारियों से मुक्त थे। इसके अलावा फ्रांस की कुल भूमि के लगभग 40% पर इन्हीं दो वर्गों का अधिकार था। इस तरह कहा जा सकता कि फ्रांसीसी समाज में इन दोनों वर्गों की विशिष्ट स्थिति थी। परन्तु एक विशेष बात यह भी थी कि इन दोनों वर्गों में कुछ लोग ऐसे थे जिनका स्तर तीसरे वर्ग से कहीं बेहतर नहीं कहा जा सकता था। ये लोग अपने ही वर्ग के उच्च स्तर वाले लोगों से प्रतिद्वंद्विता करते थे एवं तत्कालीन व्यवस्था से असंतुष्ट थे। ये अपने वर्गों के समृद्ध लोगों को ही अपने दुःखों को कारण मानते थे। स्वाभाविक रूप से इनकी नीति तीसरे वर्गों के समर्थन की थी। तीसरा वर्ग फ्रांसीसी जनसंख्या के अधिकतम भाग का प्रतिनिधित्व करता था। शोषण, अत्याचार, करों का एकतरफा भार आदि जैसे भेदभावभूलक तत्व थे जिससे प्रथम दो वर्गों के प्रति व्यापक असंतोष को बढ़ावा मिलता था। किसान-मजदूर की दीन-हीन स्थिति एवं मध्यवर्ग की जागरूकता ने फ्रांस के तत्कालीन संकट को बढ़ावा दिया। मध्यवर्ग यद्यपि आर्थिक दृष्टि से समृद्ध हो गए थे परन्तु विभिन्न प्रतिष्ठित प्रशासनिक पदों तथा अन्य सुविधाओं से वंचित थे। योग्यता एवं धन के बावजूद भी तत्कालीन व्यवस्था में उन्हें प्रतिष्ठता नहीं मिल पा रही थी। स्वाभाविक रूप से मध्यवर्ग ने सभी शक्तियों को एकजुट कर व्यवस्था परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त किया। इसी सामाजिक भेदभावमूलक स्थिति के आधार पर यह कहा जाता है कि फ्रांस की क्रांति असमानता के विरुद्ध एक संघर्ष था, जो समानता के आदर्श को प्राप्त करने के उद्देश्य से किया गया था।

फ्रांसीसी क्रांति के पीछे फ्रांस का आर्थिक खोखलापन भी कम उत्तरदायी नहीं था। ऑस्ट्रिया के उत्तराधिकार युद्ध, सप्तवर्षीय युद्ध एवं अमेरिकी स्वतंत्रता युद्ध में सक्रिय भागीदारी से फ्रांस की आर्थिक स्थिति पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा। विदेशी ऋणों में व्यापक वृद्धि हुई। तत्कालीन फ्रांसीसी शासक लुई सोलहवें द्वारा राज्य की वित्तीय साख मजबूत करने के उद्देश्य से वित्त मंत्रियों के रूप में वित्त विशेषज्ञों की नियुक्ति की गई तथा यह बात स्पष्ट सामने आई कि फ्रांस की वित्तीय स्थिति सुधारने हेतु पादरी एवं कुलीन वर्गों पर कर लगाना जरूरी है क्योंकि कोई अन्य विकल्प सामने नहीं था। परन्तु विडंबना यह रही कि ये दोनों विशेषाधिकार वर्ग इस बात को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। फलतः परिस्थितिवश राजा ने स्टेड्स जनरल की बैठक बुलाने की आवश्यकता महसूस की। अंततः घटनाक्रम ने फ्रांसीसी क्रांति को दस्तक दी।



यद्यपि फ्रांसीसी समाज किसानों एवं मजदूरों की बहुलता वाला समाज था, जिनमें नेतृत्व क्षमता का अभाव था लेकिन मध्यम वर्ग द्वारा इनकी शक्ति को एकजुट कर नेतृत्व प्रदान किया गया। क्रांति के पीछे बौद्धिक पृष्ठभूमि का व्यापक आधार भी उत्तरदायी था। क्रांति से पूर्व फ्रांस में बौद्धिक क्रांति हो चुकी थी, जिसमें मांटेस्क्यू, वाल्टेयर एवं रूसो का अमूल्य योगदान रहा। मांटेस्क्यू द्वारा सर्वप्रथम राज्य-राजा एवं व्यक्ति के मध्य संबंधों का विश्लेषण किया गया। मांटेस्क्यू की एक प्रमुख वैचारिक विशेषता यह थी कि उसने न तो क्रांति की ही बात की और न ही फ्रांस की तत्कालीन शासन व्यवस्था की प्रत्यक्षतः आलोचना की परन्तु प्रशासन के आदर्श रूप 'शक्ति का पृथक्करण सिद्धान्त' के द्वारा उसने फ्रांसीसी शासन की कमियां उजागर की। वाल्टेयर ने तत्कालीन राजतंत्र एवं उसके मुख्य अवयव जैसे पादरी एवं कुलीन वर्ग की भ्रष्ट तथा अनैतिक मनोवृत्ति की खुलकर निंदा की तथा तत्कालीन व्यवस्था में परिवर्तन की जोरदार वकालत की। बौद्धिक आंदोलन में 'रूसो' का योगदान सराहनीय रहा। स्वतंत्रता, समानता एवंबंधुत्व जो फ्रांसीसी क्रांति के मूल अंग थे... रूसो के विचारों से ही प्रभावित थे। रूसो का 'सामान्य इच्छा' (General Will) विषयक विचार काफी लोकप्रिय हुआ, जिसके अनुसार राज्य का कानून लोगों की इच्छा पर आधारित होना चाहिए न कि राजाओं की इच्छा पर। इन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'सोशल कॉन्ट्रैक्ट' में राज्य के अस्तित्व को समझौतावादी सिद्धान्त पर आधारित बताया। यही वह आधार था जिसने व्यक्ति में स्वतंत्रता, समानता एवं बंधुत्व की भावना को प्रोत्साहित किया। तत्कालीन समाज पर रूसो के पड़ने वाले प्रभाव के बारे में नेपोलियन प्रसंगवश कहता था कि "अगर फ्रांस में रूसो नहीं होता तो क्रांति नहीं होती।" अतः हम कह सकते हैं कि फ्रांस का बौद्धिक आधार काफी विस्तृत था, जिसने स्टेट्स जनरल की बैठक से प्रारंभ हुए फ्रांसीसी को विचारधारा के स्तर पर समृद्धशाली बनाया।

क्रांति का उद्भव और प्रसार

(Emergence and Expansion of Revolution)

स्टेट्स जनरल के अधिवेशन ने एक गंभीर परिस्थिति को जन्म दिया। मताधिकार को लेकर तीसरे का पहले स्टेट (पादरी) एवं दूसरे स्टेट (कुलीन) के साथ तीव्र मतभेद हो गया। फलतः तीसरे स्टेट के प्रतिनिधि जो संख्या में अत्यधिक थे, ने स्वयं को राष्ट्रीय सभा के रूप में घोषित किया एवं टेनिस कोर्ट में अपनी सभा बुलाई। इसी का परिणाम संविधान सभा के रूप में सामने आया। इसी समय तीव्र अफवाह के बीच बास्तील के किले के पतन का प्रसिद्ध घटना घटी जिसे निरंकुश सत्ता का पतन एवं जनसाधारण के विजय के रूप में मनाया गया। बास्तील के पतन के पश्चात् अन्य क्षेत्रों में भी क्रांति का प्रसार हुआ। राष्ट्रीय सभा द्वारा 'मानव और नागरिकों के अधिकारों की घोषणा' स्वीकार की गई। अन्य यूरोपीय देशों के लिए यह घोषणा महत्वपूर्ण थी क्योंकि यूरोप की शासन व्यवस्था पुरातन व्यवस्था पर आधारित विशेषाधिकार वर्ग द्वारा ही संचालित होती थी तथा फ्रांस की इस बदली हुई परिस्थिति ने अन्य यूरोपीय देशों की पुरातन व्यवस्था के लिए गंभीर खतरा उत्पन्न कर दिया। इन देशों में क्रांति की विचारधारा (स्वतंत्रता, समानता एवं बंधुत्व) के प्रचार-प्रसार से राजनीतिक सत्ता के समाप्त हो जाने का भय उत्पन्न हो गया था तदन्तर परिस्थिति ऐसी हो गई कि फ्रांस को क्रांति एवं राष्ट्र दोनों की रक्षा के लिए दोहरी जिम्मेदारी का सफलतापूर्वक निर्वहन करना पड़ा। फ्रांस को ऑस्ट्रिया, प्रशा तथा इटली के राजाओं से युद्ध करना पड़ा। अगली कड़ी के रूप में फ्रांस में राष्ट्रीय सभा के स्थान पर विधानसभा अस्तित्व में आई। इस बीच देश छोड़कर भागने की कोशिश कर रहे राजा और रानी को गिरफ्तार कर मुकदमा चलाया गया तथा 1793 में उन्हें फांसी दे दी गई। घटनाक्रम की अगली कड़ी में जैकोबिन्स के रूप में आंतकी राज्य कायम हुआ। इसके अधीन सेना की शक्ति में अत्याधिक वृद्धि हुई तथा इसी परिप्रेक्ष्य में नेपोलियन की शक्ति का उदय हुआ, जिसके नेतृत्व में फ्रांस का चहुंमुखी विकास हुआ तथा फ्रांस यूरोप की महाशक्ति के रूप में उभर कर सामने आया।

फ्रांसीसी क्रांति के प्रभाव (Effects of French Revolution)

फ्रांसीसी क्रांति ने संपूर्ण यूरोप को प्रभावित किया। इस क्रांति का प्रसिद्ध मूल मंत्र 'स्वतंत्रता-समानता-विश्व बंधुत्व' तत्कालीन विश्व की महान उपलब्धि के रूप में यूरोपीय देशों में तेजी से फैल गई। इससे यूरोप के देशों (इंग्लैंड को छोड़कर) में विद्यमान निरंकुश और स्वेच्छाचारी शासन पर आधारित शोषणकारी व्यवस्था पर तीव्र प्रहार हुआ एवं वहां के जनता में स्वतंत्रता एवं समानता की भावना प्रबल हुई। स्वतंत्रता की इसी भावना ने फ्रांस में किसानों को अर्द्धदासता से मुक्ति दिलाई एवं सामंतों के बेड़ियों से उन्मुक्त कराया। राजनीतिक अधिकारों के दृष्टिकोण से मताधिकार सिद्धान्त का प्रचलन हुआ। समानता की भावना का प्रसार क्रांति का एक



महत्वपूर्ण पहलू था। राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक समानता के मापदंड स्थापित करने की यथेष्ट कोशिश की गई क्योंकि तत्कालीन समाज विषमतावादी व्यवस्था पर आधारित था। फ्रांसीसी क्रांति का एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष विश्व-बंधुत्व की अवधारणा थी। निश्चित रूप से यह एक स्वतंत्रताप्रिय स्थिति का द्योतक था जिसने यूरोपीय देशों को निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी तंत्र बुरी तरह प्रभावित हुआ। तत्कालीन व्यवस्था के विरुद्ध विभिन्न देशों में क्रांतिकारी आंदोलन प्रारंभ हो गए। जब नेपोलियन ने जर्मनी, इटली सहित विभिन्न क्षेत्रों को जीत का एवं उसकी स्वतंत्रता समाप्त कर अपना शिकंजा मजबूत किया तो कालान्तर में लोगों में स्वशासन की भावना प्रबल हुई और वे इस दिशा में सकारात्मक पहल की ओर अग्रसर हुए। यह कहना युक्ति संगत होगा कि जर्मनी एवं इटली के एकीकरण में इस आदर्श का महान योगदान था।

फ्रांसीसी क्रांति के फलस्वरूप लुई सोलहवें की सत्ता को हटा कर गणतंत्रीय प्रणाली को अपनाया गया। यह अलग बात है कि फ्रांस के हितों में नेपोलियन के सम्राट बनने के क्रम में गणतंत्रीय प्रणाली को तिलांजलि दे दी गई। फ्रांसीसी क्रांति ने फ्रांस सहित विभिन्न देशों में राष्ट्रीयता के प्रसार में अमूल्य योगदान दिया। मिशाल के तौर पर इसका सर्वोत्तम उदाहरण पुर्तगालियों एवं स्पेनवासियों द्वारा नेपोलियन की सेना को बुरी तरह से पराजित कर अपनी स्वतंत्रता कायम करना था। इस प्रसंग में एक विशेष बात यह थी कि स्वाधीनता हेतु, लड़ने वाले क्रांतिकारी न सिर्फ अपनी स्वाधीनता के लिए और न ही अपने शोषणकारी शासक को समाप्त करने हेतु संघर्ष कर रहे थे वरन् सर्वत्र तानाशाही को समाप्त करने के उद्देश्य से प्रेरित थे।

अंत में कहा जा सकता है कि फ्रांसीसी क्रांति ने तत्कालीन विश्व में स्वतंत्रता, समानता, विश्व-बंधुत्व जैसी व्यापक अवधारणा को प्रचलित कर लोगों में तत्कालीन पुरातन व्यवस्था पर आधारित व्यवस्था के विरुद्ध स्वतंत्रताप्रियता एवं राष्ट्रीयता की भावना का प्रसार किया जिससे गणतंत्रीय प्रणाली को प्रोत्साहन मिला। हालांकि नेपोलियन के पतन के बाद 1814-15 में आयोजित वियना कांग्रेस द्वारा पुनः पुरातन व्यवस्था के मापदंड को स्थापित करने की कोशिश की गई, लेकिन इसमें कोई दो राय नहीं कि फ्रांसीसी क्रांति के फलस्वरूप स्वेच्छाचारी व्यवस्था खोखली साबित हुई और अंततः विश्व में गणतंत्रीय शासन प्रणाली प्रतिष्ठित हुई। यह फ्रांसीसी क्रांति की महान देन कही जा सकती है।

फ्रांसीसी क्रांति की प्रमुख घटनाएं (Important Incidents of French Revolution)

- (i) **स्टेट्स जनरल का अधिवेशन** : 5 मई, 1789 को स्टेट्स जनरल की बैठक शुरू हुई। यह बैठक दीर्घ अवधि के पश्चात् हो रही थी एवं इसके प्रतिनिधियों को कार्यवाहियों की कोई जानकारी नहीं थी। पहले प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय स्टेट्स की बैठक अलग-अलग होती थी एवं सभी के अलग-अलग 300 सदस्य होते थे। किसी मुद्दों पर निर्णय दो सदनों के बहुमत से ही निश्चित होता था। परन्तु इस समय मुख्य बातें उभकर सामने आई कि तृतीय स्टेट्स ने अपने प्रतिनिधियों की संख्या दोगुनी करने की मांग की, क्योंकि उनकी जनसंख्या प्रथम एवं द्वितीय स्टेट्स की जनसंख्या से दोगुनी थी। यद्यपि राज्य द्वारा इस मांग को स्वीकार कर लिया गया लेकिन यह बात अस्पष्ट ही रही कि क्या तीनों स्टेट्स की बैठक साथ में होगी या अलग-अलग। यह एक ऐसा मुद्दा था जिस पर तीनों स्टेट्स में सहमति नहीं बना पा रही थी। तृतीय स्टेट्स चाहते थे कि बैठक संयुक्त रूप से एवं बहुमत के आधार पर हो जबकि प्रथम एवं द्वितीय स्टेट्स अलग-अलग बैठक चाहते थे और ऐसा न होने पर दो सदनों के एक साथ मिल जाने से तृतीय सदन पराजित हो जाता। सभी स्टेट्स अपनी-अपनी जिद पर अड़े रहे।
- (ii) **टेनिस कोर्ट की शपथ** : स्टेट्स जनरल बैठक की अगली कड़ी के रूप में तृतीय स्टेट द्वारा टेनिस कोर्ट की शपथ वाली घटना उल्लेखनीय रही। प्रतिनिधियों ने टेनिस कोर्ट में एक संविधान के निर्माण हेतु शपथ ली। इस दृढ़तापूर्ण शपथ से घबराकर राजा ने तीनों सदनों की बैठक एक साथ होने की आज्ञा दे दी। स्टेट्स जनरल अब राष्ट्रीय सभा कहलाने लगी।
- (iii) **बास्तिल का पतन** : बढ़ती महंगाई से परेशान फ्रांसीसी जनमानस ने रोजी-रोटी की तलाश में पेरिस की ओर रुख किया। कुछ ही दिनों में पेरिस की गलियां एवं सड़के इस भीड़ से भर गई। इस समय कुछ क्रांतिकारी तत्त्वों ने इस भीड़ को राजसत्ता के विरुद्ध भड़काना शुरू किया, साथ ही यह अफवाह भी फैली कि राजा स्थिति पर काबू पाने हेतु विदेशी सैनिकों का उपयोग करने जा रहा है। फलतः भीड़ में शामिल कुछ असामाजिक तत्त्वों ने पेरिस में भीषण लूटपाट शुरू की एवं गोला-बारूद पाने हेतु बास्तिल

के किले पर हमला कर दिया। हमले से वहां बंद कैदी मुक्त हो गए। बास्तिल के पतन के साथ ही फ्रांसीसी क्रांति की शुरुआत हो गई।

- (iv) **नागरिक सभा एवं राष्ट्रीय रक्षा दल** : फ्रांसीसी क्रांति की शुरुआत होते ही पेरिस में फैली अव्यवस्था तथा कानून-व्यवस्था की बिगड़ती स्थिति पर काबू पाने एवं पेरिस की रक्षा के लिए लाफायत के नेतृत्व में एक राष्ट्रीय रक्षा दल (नेशनल गार्ड) तथा पेरिस के शासन हेतु नागरिक सभा (कम्यून) की स्थापना की गई। अन्य फ्रांसीसी शहरों में भी इन संस्थाओं का संगठित रूप सामने आया। वास्तव में फ्रांस का वास्तविक शासन अब राष्ट्रीय रक्षा दल एवं कम्यून के हाथों में ही केंद्रित हो गया। इन संस्थाओं ने बूर्जुवांशीय सफेद ध्वज के स्थान पर नया राष्ट्रीय ध्वज निकाला।

- (v) **संविधान सभा एवं मानवाधिकारों की घोषणा** : राष्ट्रीय सभा का ही परिवर्तित रूप था - संविधान सभा। सन् 1789-1791 के बीच संविधान का निर्माण कार्य संपन्न हुआ। अमेरिकी क्रांति एवं रूसो की पुस्तक 'सोशल कांटेक्ट' से प्रभावित संविधान सभा के सदस्यों ने फ्रांसीसी क्रांति के फलस्वरूप परिवर्तित स्थिति में मानवाधिकारों की घोषणा की। मानवाधिकारों की इस घोषणा में समानता के सिद्धान्त का जोरदार समर्थन किया गया था। इसमें इस बात पर विशेष रूप से जोर दिया गया था कि सभी मनुष्य समान रूप से पैदा होते हैं, अतः अधिकारों के मामलों में भी उनमें समानता होनी चाहिए। स्वाभाविक रूप से इस स्थिति में प्रत्येक राजनीतिक संस्था का यह कर्तव्य है कि मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा करें। इस प्रसिद्ध अधिकारों में मुख्य रूप में स्वतंत्रता, समानता, संपत्ति, सुरक्षा एवं अत्याचार के विरोध का अधिकार, कानून के समक्ष समानता, धार्मिक स्वतंत्रता, कानून निर्माण आदि शामिल थे। अतः यह कहा जा सकता है कि इस घोषणा में संविधान सभा ने नए संविधान के आधारभूत सिद्धान्तों-स्वतंत्रता, समानता एवं जनता के प्रभुत्व की घोषणा की।

इस प्रसिद्ध घोषणा का विश्व के राजनीतिक पटल पर क्रांतिकारी प्रभाव परिलक्षित हुआ। यह घोषणा फ्रांसीसियों के लिए ही उपयुक्त नहीं थी वरन् समस्त विश्व की दलित जनता इससे प्रेरित हुई। यह अलग बात है कि यह घोषणा मुख्य रूप से फ्रांसीसी के लिए ही उपयुक्त नहीं था वरन् समस्त विश्व की दलित जनता इससे प्रेरित हुई। यह अलग बात है कि यह घोषणा मुख्य रूप से फ्रांसीसी मध्यमवर्ग को ही विशेष रूप से ध्यान में रखकर तैयार की गई थी।

- (vi) **व्यवस्थापिका सभा-जिरोंदिस्त एवं जैकोबिन दल (1791-92)** : अपने हित को ध्यान में रखते हुए संविधान सभा के सदस्यों ने व्यवस्थापिका सभा की स्थापना की अनुशंसा की। सितंबर, 1791 में संविधान सभा भंग कर दी गई। सभा के भंग होते ही। 1791 में 745 सदस्यीय व्यवस्थापिका सभा अस्तित्व में आई। व्यवस्थापिका सभा में दो दल थे- (क) वैध राजसत्तावादी एवं (ख) गणतंत्रवादी। इनमें वैध राजसत्तावादी क्रांति को समाप्त कर वैध राजतंत्र को कायम रखने के पक्ष में थे तथा संविधान के कट्टर समर्थक थे, जबकि गणतंत्रवादी राजपद को समाप्त कर गणतंत्र की स्थापना करना चाहते थे। वस्तुतः गणतंत्रवादी उग्रवादी विचार के थे तथा विचारधारा के स्तर पर इसके दो गुट थे-जिरोंदिस्त एवं जैकोबिन।

जिरोंदिस्त दल : जिरोंद प्रांत के नाम पर इस दल का नाम जिरोंदिस्त पड़ा। जिरोंद प्रांत के अधिकांश निवासी ही इस दल के सदस्य थे। ये शिक्षित एवं सुसंस्कृत थे परन्तु व्यवहारिक राजनीतिज्ञ नहीं थे इस दल के प्रमुख नेता थे- इस्नार, पेसिओ, ब्रिसो, मादाम रोलाँ, टॉमस पेन आदि। इस दल की पकड़ पेरिस पर नहीं थी और ये पेरिस की आलोचना करते थे। ये मूलतः युद्ध के पक्षधर थे एवं इनका विश्वास था कि युद्ध में ही वास्तविक देशभक्ति स्पष्ट होगी।

- (vii) **नेशनल कंवेंशन एवं आंतक का राज्य (1792-95)** : व्यवस्थापिका सभा के विघटन के पश्चात् फ्रांस की क्रांति तीसरे चरण में प्रविष्ट हुई। यह नेशनल का काल था। इस काल में सरकार के शासनतंत्र पर जैकोबिन दल का प्रभाव था। 20 सितंबर, 1792 को नेशनल कंवेंशन की प्रथम बैठक हुई। इसमें जिरोंदिस्त एवं जैकोबिन दल मुख्य थे। नेशनल कंवेंशन के समक्ष तीन मुख्य समस्याएं थीं- विदेशी आक्रमण, राजा की उपस्थिति एवं गृहयुद्ध। नेशनल कंवेंशन ने प्रस्ताव पारित कर राजतंत्र को समाप्त कर गणतंत्र की स्थापना की तथा राजा पर देशद्रोह का मुकदमा चलाकर उसे मृत्युदंड की सजा दी गई। (21 जनवरी 1793)। नेशनल कंवेंशन के समय में जिरोंदिस्तों-जैकोबिनों के मध्य होने वाले संघर्ष ने अंततः आंतक के राज्य की शुरुआत की। रोबोस्पियर ने आंतक के राज्य की शुरुआत की। क्रांति विरोधियों के





विरुद्ध सार्वजनिक रक्षा समिति, सामान्य सुरक्षा समिति एवं क्रांतिकारी न्यायालयों का गठन किया गया एवं भारी संख्या में लोगों को क्रांति का शत्रु बताकर मौत के घाट उतार दिया गया। विद्रोहों का दमन एवं बाहरी आक्रमणों का सफलतापूर्वक सामना किया गया। इस काल में निम्न वर्गों के लिए हितों पर विशेष बल दिया गया। आंतक के राज्य के समय में हजारों लोगों को दी गई फांसी 'गिलोटीन' कहलाता है।

(viii) **डायरेक्टरी का शासन-पैथियन विद्रोह एवं नेपोलियन का उदय (1795-99)** : नेशनल कंवेंशन द्वारा निर्मित संविधान के तहत कार्यपालिका का उत्तरदायित्व 5 सदस्यों वाली निदेशक मंडल को सौंपा गया जिसमें सभी सदस्यों के अधिकार समान थे। नेशनल कंवेंशन के पश्चात् फ्रांस में डायरेक्टरी का शासन शुरू हुआ। डायरेक्टरी के समय में फ्रांस का इतिहास अत्यंत दुखमय एवं अनिश्चित रहा। यह समय मध्यमवर्ग के चर्मोत्कर्ष का समय था।

डायरेक्टरी के समय में ही फ्रांस में पैथियन विद्रोह हुए। यह विद्रोह पूंजीवादी मध्यवर्गीय शासन से फ्रांस को मुक्ति दिलाने का प्रयास था। 1795 में स्थापित पैथियन सोसायटी मुख्यतः मजदूर वर्ग के आंदोलन को सशक्त करने के उद्देश्य से की गई थी। इसकी अगुवाई 'नोएफ बबूफ' ने की परन्तु अंततः इस विद्रोह को दबा दिया गया।

डायरेक्टरी के समय में फ्रांस में फैली व्याप्त अराजकता, भ्रष्ट शासन, व्यापार-व्यवसाय की अवनति तथा असफल विदेश नीति के कारण गंभीर समस्या उत्पन्न हो गई। इसी परिप्रेक्ष्य में नेपोलियन का उदय हुआ जिसने डायरेक्टरी के शासन का अंत कर अंततः सत्ता पर अधिकार कर लिया।

नेपोलियन बोनापार्ट (Napoleon Bonaparte)

नेपोलियन का जन्म 15 अगस्त, 1769 को कोर्सिका द्वीप में हुआ था। उसी वर्ष जेनेवा द्वारा यह द्वीप फ्रांस के हाथों बेच दिया गया। इसकी प्रतिक्रिया में कोर्सिकावासियों में फ्रांस के प्रति नफरत फैल गई। फ्रांसीसी सरकार द्वारा कोर्सिका के लोगों हेतु कई सुविधाएं दी गई ताकि लोगों में फ्रांस के प्रति अपनापन विकसित हो जाये। इसी क्रम में नेपोलियन की प्रारंभिक शिक्षा पेरिस की सैनिक स्कूल से संपन्न हुई। 1795 में राजतंत्रवादियों एवं पेरिस की भीड़ द्वारा नेशनल कंवेंशन का व्यापक घेराव किया गया था और ऐसी स्थिति में नेशनल कंवेंशन की सफलतापूर्वक रक्षा करना नेपोलियन की एक बड़ी उपलब्धि थी। इस उपलब्धि से अभिप्रेरित होकर नेपोलियन के 1796 के इटली अभियान का मार्ग प्रशस्त हुआ। इटली अभियान की सफलता से प्रोत्साहित होकर नेपोलियन ने ऑस्ट्रिया, मिस्त्र आदि देशों में भी अभियान चलाया। मिस्त्र अभियान सफल नहीं होने के बावजूद भी फ्रांस की जनता ने नेपोलियन का सहर्ष स्वागत किया जिसका एक कारण फ्रांसीसी जनता का तत्कालीन फ्रांसीसी नेतृत्व डायरेक्टरी के शासन के प्रति असंतुष्ट हो जाना था। नेपोलियन द्वारा डायरेक्टरी के शासन का अंत कर कौंसल व्यवस्था स्थापित की गई तथा नेपोलियन स्वयं प्रधान कौंसल बन गया। प्रधान कौंसल के रूप में नेपोलियन ने फ्रांस के लिए एक सर्वसम्मत एवं चिरस्थायी संविधान को प्राथमिकता दी। वस्तुतः इस संविधान में गणतंत्र का रूप समाहित था परन्तु यह भी उल्लेखनीय है कि संपूर्ण सत्ता नेपोलियन के हाथों में केन्द्रित थी। 1804 ई. में फ्रांस में जनमत संग्रह के आधार पर नेपोलियन फ्रांस का सम्राट बना। सम्राट के रूप में नेपोलियन द्वारा प्रशासन तंत्र, उद्योग, वाणिज्य व्यापार, शिक्षा, धर्म, विधि के संदर्भ में विधि के संदर्भ में विधि संहिता अनेकानेक सुधारों पर गंभीर पहल की गयी। इससे नेपोलियन की तानाशाही शासन के बावजूद भी फ्रांसीसी जनता एवं सबसे बढ़कर फ्रांस का एक देश के रूप में सर्वांगीण विकास संभव हो पाया।

नेपोलियन ने प्रसिद्ध विजय अभियान की नीति का अनुसरण कर इंग्लैंड, ऑस्ट्रिया, प्रशा, रूस आदि से महत्वपूर्ण लड़ाइयां लड़ीं। जिसमें इंग्लैंड के साथ 1805 में ट्रेफलगर युद्ध में फ्रांस की पराजय हुई। अंततः यूरोप की इस शक्ति को पराजित करने हेतु नेपोलियन को प्रसिद्ध महाद्वीपीय व्यवस्था को लागू करना पड़ा। जिसका उद्देश्य था-इंग्लैंड के विदेशी व्यापार को हतोत्साहित कर आर्थिक रूप से पंगु बना देना और फिर सैन्य शक्ति द्वारा उसे पराजित कर फ्रांस को यूरोप की एकमात्र शक्ति के रूप में स्थापित करना। लेकिन इस व्यवस्था में कई व्यावहारिक समस्याएं थी इसलिए शीघ्र ही यह व्यवस्था असफलता की राह पर अग्रसर हो गई और इंग्लैंड के बजाय फ्रांस पर ही उल्टा हथियार चल पड़ा। नेपोलियन की इस व्यवस्था ने उसे यूरोप में कई युद्धों में उलझा दिया। पुर्तगाल-स्पेन युद्ध ने तो मानों नेपोलियन की प्रतिष्ठा को ही एक तरह से समाप्त

कर दिया। अंततः प्रशा ऑस्ट्रिया, इंग्लैंड, रूस तथा स्वीडेन के गठबंधन ने लिप्जिग के युद्ध (Battle of Leipzig) में नेपोलियन को पराजित कर दिया। यद्यपि नेपोलियन द्वारा फ्रांस की अंतर्राष्ट्रीय साख स्थापित करने हेतु एक और प्रयास किया गया, परन्तु 1815 में वाटर लू की पराजय ने सारे प्रयास पर पानी फेर दिया और 1815 में वियना कांग्रेस की व्यवस्था द्वारा में पुनः पुरातन व्यवस्था स्थापित की गई।



4. 1917 की रूसी क्रांति (Russian Revolution of 1917)



1917 की रूसी क्रांति मुख्य रूप से रूस की पिछड़ी अर्थव्यवस्थाओं किसानों एवं मजदूरों की विपन्नता, निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी शासन के अत्याचार, जन-विद्रोह, सरकार में मजदूरों की दशा में सुधार लाने की इच्छा शक्ति का अभाव आदि का सम्मिलित परिणाम थी। 1917 ई. की रूसी क्रांति प्रथम विश्वयुद्ध के काल में ऐसी परिस्थितियों में हुई जब रूस की सेनाओं की सर्वत्र हार हो रही थी। परन्तु यह क्रांति युद्ध में रूस की सैनिक पराजय का परिणाम नहीं था। युद्ध ने रूस में उन प्रक्रियाओं को तीव्र कर दिया जो लंबे अर्से से रूस की जारशाही व्यवस्था की जड़ों को खोखला कर रही थी।

रूसी क्रांति के कारण (Causes of Russian Revolution)

- (i) **रूस में निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी जारशाही तंत्र:** रूस के शासक को 'जार' कहा जाता था, जो एक निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी शासक के रूप में बदनाम था। ऐसी स्थिति में जब 19वीं शताब्दी में लगभग संपूर्ण यूरोप में परंपरागत शासन को प्रश्रय दिए हुए थे। रूस का जार निकोलस द्वितीय, जिसके समय में क्रांति हुई थी, अत्यंत ही भोग-विलासी शासक था तथा प्रजा के मामलों में कोई दिलचस्पी नहीं लेता था। कृषक दासता से मुक्ति एवं रूस के औद्योगिकरण के कारण मजदूरों की संख्या में वृद्धि हुई। परन्तु इनमें से न तो कृषकों को और न ही मजदूरों को राजनीतिक अधिकार मिल सका। हालाँकि 1861 के पश्चात् कुछ स्वायत्तशासी परिषदें शहरों एवं गांवों में अस्तित्व में आईं, परन्तु इनका संगठन संतोषजनक नहीं था। इन परिषदों में भूमिपतियों एवं धनी लोगों का ही बोलबाला था। रूसी शासक जार द्वारा प्रगतिशील प्रवृत्तियों के विरुद्ध घोर दमन की नीति अपनाई गई, जैसे प्रेस की स्वतंत्रता नहीं थी तथा नागरिकों को किसी भी प्रकार के अधिकार नहीं मिले हुए थे। बौद्धिक विचारों पर भी कठोर नियंत्रण था। इसके अलावा जार निकोलस द्वितीय की पत्नी जरीना एवं मंत्री रासपुतिन भी निरंकुश शासन का घोर पक्षधर थे। ये दोनों रूस के राजनीतिक एवं प्रशासनिक तंत्र पर विशेष नियंत्रण रखते थे। इन परिस्थितियों में जब 19वीं शताब्दी में यूरोपीय देशों में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे एवं राजतंत्र की शक्ति सीमित कर संवैधानिक राजतंत्र या गणतंत्र की स्थापना हो रही थी, रूसी जनता जारशाही व्यवस्था के विरुद्ध संगठित होने लगे।
- (ii) **रूस-जापान युद्ध (1904-05) :** 1904-05 की रूस-जापान युद्ध में रूस की पराजय ने रूसी राजनीतिक व्यवस्था के खोखलेपन को उजागर कर दिया। औद्योगिक क्रांति के पश्चात् उपनिवेशों की तलाश में जापान ने चीन के मंचूरिया क्षेत्र पर रूस के अधिकारों को चुनौती दी और इसी मुद्दे पर रूस एवं जापान के मध्य युद्ध छिड़ गया। इस युद्ध में रूस की पराजय ने रूसी महानता को मिथ्या साबित कर दिया। एक छोटे से एशियाई देश जापान के हाथों एक विशाल देश रूस की पराजय के लिए रूसी जनता अंब खुलकर जारशाही को दोषी ठहराने लगी। इस पराजय ने रूसी जनता को क्रांति हेतु प्रेरित किया। रूसी जनता द्वारा प्रतिनिधि सभा की मांग तीव्र हो गई। फलतः इस प्रतिकूल स्थिति में दबाव में आकर जार द्वारा जनता की इस मांग को स्वीकार कर लिया गया एवं 'ड्यूमा' नाम से प्रसिद्ध संसद की स्थापना हुई। परन्तु जार द्वारा अपनी सत्ता के क्रमिक क्षरण के भय से संसद को बार-बार भंग किया जा रहा था। फलतः जार एवं संसद के मध्य तनाव उत्पन्न हुए। 1904-05 की रूसी पराजय एवं संसद का संघर्षपूर्ण रवैया और जार की आम जनता की आकांक्षाओं के प्रति उपेक्षापूर्ण रुख निश्चित रूप से 1917 की रूसी क्रांति के कारण बने।
- (iii) **राजनीति जागरूकता तथा राजनीतिक दलों का उदय:** हालाँकि यह सत्य है कि रूस में औद्योगिकरण अन्य यूरोपीय देशों की तरह नहीं हुआ और न ही वहां मजदूरों की संख्या ही अधिक थी, परन्तु रूस में मार्क्स के अनुयायियों की संख्या दिनों-दिन बढ़ती बढ़ रहे थे। इसका मुख्य कारण यह था कि मार्क्सवादी समूह मजदूरों के मध्य रहकर सामाजिक तथा राजनीतिक चेतना बढ़ा रहे थे। जारशाही सरकार मार्क्सवादियों पर अनेक प्रतिबंध लगा रहा था, लेकिन फिर भी उनके अखबार तथा पर्चे निकालते रहे एवं छोटी-छोटी समितियों के माध्यम से उनका राष्ट्रव्यापी संगठन बनता जा रहा था। इस परिस्थिति में लेनिन, जो उच्च कोटि का संगठनकर्ता, कुशल लेखक एवं प्रभावशाली वक्ता था, की सक्रियता के कारण रूसी जनांदोलन में प्रगति आई तथा लोगों में राजनीतिक चेतना बढ़ी।



1904-05 की रूसी पराजय के फलस्वरूप देश के असंतोष में व्यापक वृद्धि हुई जिसका लाभ उठाकर अनेक राजनीतिक दल एवं राजनीतिक विचारधारा अस्तित्व में आए। इन राजनीतिक विचारधाराओं में मूलतः दो पक्ष थे, एक पक्ष संवैधानिक सुधारों का समर्थक था एवं शांतिपूर्ण तरीके से रूस में संवैधानिक परिवर्तन चाहता था। इसमें सामंतों की संख्या अधिक थी तथा ये सभा को जार से अधिक प्रभावशाली नहीं बनाना चाहते थे। दूसरा पक्ष मूल रूप से इंग्लैंड की तरह संवैधानिक राजतंत्र में विश्वास था तथा मध्यम वर्ग द्वारा संगठित था। इन राजनीतिक दलों एवं जार के बीच संतोषजनक समन्वय स्थापित न होने के कारण 1917 की क्रांति की स्थिति उत्पन्न हुई।

- (iv) **किसानों एवं मजदूरों की हीन दशा :** रूस एक कृषि प्रधान देश था। जहां की बहुसंख्यक जनता कृषक थी। परन्तु, कृषकों की स्थिति नाजुक थी। यद्यपि 1861 में जार एलेक्जेंडर द्वितीय द्वारा कृषिदासों की मुक्ति की घोषणा की गई लेकिन किसानों की स्थिति में संतोषजनक सुधार नहीं हो पाया। अभी भी रूसी जमीन का अधिकांश भाग कुलीनों एवं धार्मिक संस्थाओं तथा उससे संबंधित व्यक्ति के अधीन था। इन बहुसंख्यक कृषकों को जमींदारों की भूमि पर अमानवीय तरीकों से कार्य करना पड़ता था। कृषकों को कई प्रकार के बेगार भी करना पड़ते थे। पुरातन कृषि प्रणाली से संतोषजनक उत्पादन न हो पाने तथा अत्यधिक शोषणकारी व्यवस्था के विरुद्ध कृषक वर्गों में असंतोष में तीव्र वृद्धि हुई। इस परिस्थिति में क्रांतिकारी समाजवादी दल ने कृषकों को शासन के विरुद्ध भड़काया।

कृषकों की तरह ही श्रमिकों की भी कमोबेश यही स्थिति थी। रूस से औद्योगिकरण की प्रक्रिया विलंब से शुरू हुई- 19वीं शताब्दी के अंतिम चरण में। औद्योगिकरण के लिए पूंजी मुख्यतः विदेशों से आई, जिनकी मानसिकता अधिकतम मुनाफे की थी एवं मजदूरों के हितों की अनेदखी की गई। गरीबी एवं बेरोजगारी से तंग आकर लोग गांव से शहर की ओर पहुंचने लगे। ऐसी स्थिति में उद्योगों के लिए मजदूरों की संख्या में वृद्धि हुई जिससे उनकी मजदूरी पर कुप्रभाव पड़ा। न्यूनतम मजदूरी एवं उद्योगपतियों की अधिकतम लाभ संबंधी प्रवृत्ति ने मजदूरों को हीन स्थिति में ला खड़ा किया। मजदूरों की इस दयनीय स्थिति के संबंध में गठित सोशल डेमोक्रेटिक लेबर पार्टी ने इन श्रमिक असंतोष को क्रांति में परिवर्तित कर दिया।

- (v) **समाजवादी विचारधारा का प्रसार :** यूरोप में औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप समाजवादी विचारधारा विकसित हुई। इन समाजवादी विचारकों का मुख्य उद्देश्य मजदूरों के हितों में जैसे उसकी कार्य-संस्कृति, संतोषजनक मजदूरी एवं आवासीय दशाओं में सुधार संबंधी वातावरण तैयार करना था। इसी तरह रूस में भी जब औद्योगिकरण की प्रक्रिया शुरू हुई तक समाजवादी विचारधारा प्रसारित होने लगी, जिसकी परिणति थी-सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी एवं सोशलिस्ट रिवोल्यूशनरी पार्टी की स्थापना। इसमें से सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी सर्वहारा वर्ग को क्रांति का मुख्य आधार मानता था; कृषकों को नहीं जबकि सोशलिस्ट रिवोल्यूशनरी पार्टी किसानों को संगठित कर क्रांति का पक्षधर था। शीघ्र ही 1903 में सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी दो भागों में विभाजित हो गई-बोलशेविक अर्थात् जो बहुमत में था एवं मेन्शेविक जो अल्पमत में था। बोलशेविक पार्टी क्रांतिकारी रास्ता अपनाकर मजदूरों का शासन स्थापित करने का पक्षधर था तथा लेनिन ने इसे लोकप्रिय बनाने में मंहती भूमिका निभाई। मेन्शेविक वैसे तो मार्क्स के सिद्धान्तों में विश्वास तो करते थे परन्तु साधनों में नहीं। वे क्रमिक परिवर्तन एवं क्रमिक विकास में विश्वास करते थे। इन समाजवादी दलों द्वारा किसान व मजदूरों को संगठित कर व्यवस्था परिवर्तन एवं क्रांति का आधार तैयार किया गया।

- (vi) **राज्य का आर्थिक दिवालियापन :** 20वीं शताब्दी के आरंभिक काल में रूस विश्व का सबसे बड़ा साम्राज्य बन गया था। इस स्थिति में प्रशासन एवं सुरक्षा हेतु राज्य के व्यय में अत्यधिक वृद्धि हो गई थी जबकि विशाल रूसी साम्राज्य का अधिकांश भाग बंजर या पथरीली भूमि थी। कृषि दासता के उन्मूलन के बाद भी कृषकों की स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं हो पाया और न ही राज्य की आय में ही वृद्धि हुई।

- (vii) **जार की रूसीकरण की नीति :** जार की रूसीकरण की नीति न काफी हद तक 1917 की रूसी क्रांति का आधार मजबूत किया। रूस में रूसी, पोल, उजबेक आदि जातियां निवास करती थीं। इन सभी जातियों की अपनी अलग-अलग सामाजिक एवं सांस्कृतिक एवं सांस्कृतिक परंपराएं थी। इस संबंध में जार

एलेक्जेंडर तृतीय, जो अत्यंत ही संकीर्ण विचारधारा का व्यक्ति था, ने 'एक जार, एक चर्च एवं एक रूस' की नीति का अवलंबन कर रूस की जातियों को अपनी संस्कृति को छोड़कर एकीकरण हेतु मजबूर कर दिया। जार के इस एकीकरण की नीति के परिणामस्वरूप गैर-रूसी जातियां जार की कट्टर विरोधी बन गईं। अतः हम कह सकते हैं कि रूसी सरकार द्वारा रूसी संस्कृति को अल्पसंख्यक जातियों पर लादने के प्रयास से इन जातियों का आक्रोश सरकार के प्रति बढ़ने लगा जो क्रांति के रूप में प्रखर हुआ।



(viii) तात्कालिक कारण (प्रथम विश्वयुद्ध में रूस की भागीदारी) : साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा के चलते रूसी जारशाही ने रूस को प्रथम विश्वयुद्ध में ढकेल दिया। रूस के युद्ध में फंसने पर जर्मनी ने रूस के सर्वाधिक उपजाऊ पश्चिमी क्षेत्र पर कब्जा कर लिया। इस स्थिति में रूसी किसानों को सेना में जबर्दस्ती शामिल किया जा रहा था। साथ ही, सेना को अस्त्र-शस्त्र एवं उचित प्रशिक्षण भी नहीं मिल पा रहा था। अतः बड़ी तादाद में रूसी सैनिक बेमौत मारे जा रहे थे। इसके अलावा देश में गरीबी एवं बरोजगारी भी बढ़ने लगी। लोहे एवं कोयले के अभाव में कारखाने बन्द होने लगे। फलतः उत्पादन में कमी के साथ-साथ मजदूरों की छंटनी भी होने लगी। इस स्थिति में प्रथम विश्व युद्ध में रूस की पराजय होने लगी, सैनिक बगावत करने लगे और समस्त देश में असंतोष का वातावरण बन गया। प्रथम विश्वयुद्ध में पराजय की संभावना बढ़ने से रूस की जनता इसे राष्ट्रीय अपमान के रूप में देखने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि रूसी जारशाही व्यवस्था विघटित होने लगी। अतः हम कह सकते हैं कि प्रथम विश्वयुद्ध ने रूस में क्रांति की प्रक्रिया एवं घटनाक्रमों को तीव्र कर दिया।

1917 की फरवरी/मार्च क्रांति (February /March Revolution , 1917)

प्रथम विश्वयुद्ध के प्रारंभ होने से पूर्व रूसी शासनतंत्र घोर प्रतिक्रियावादी लोगों के गुट द्वारा संचालित होता था, जिसने रूस को युद्धरत बना दिया। प्रथम विश्वयुद्ध जनित दुर्व्यवस्था और जारशाही की अयोग्यता ने रूसी जनता को एकदम बेहाल कर रखा था। जनवरी, 1917 को 'खूनी रविवार के 12 वीं वर्षगांठ' के अवसर पर भारी संख्या में मजदूरों ने हड़ताल की। सभी प्रमुख कारखानों में मार्च के अंत तक हड़ताल शुरू हो गई। मार्च 1917 (रूसी कैलेंडर के मुताबिक फरवरी महीना) को पेट्राग्राड (सैंटपीटर्सबर्ग) की सड़कों पर भूख एवं ठंड से बेहाल मजदूरों ने रोटी की मांग के साथ जुलूस निकाला एवं दुकानों, सरकारी संपत्तियों आदि को लूटना शुरू किया। इस स्थिति में सेना भी इन मजदूरों के साथ मिल गई। इन मजदूरों एवं सैनिकों द्वारा क्रांतिकारी सोवियत परिषद् का गठन किया गया। इस परिषद् में शासन का वास्तविक अधिकार निहित था। साथ ही इस परिषद् ने ड्यूमा के सदस्यों के साथ मिलकर अस्थायी सरकार गठित की। ड्यूमा के सोशलिस्ट रिवोल्यूशनरी पार्टी के नेता अलेक्जेंडर करेन्सकी ने अंततः मंत्रिमंडल गठित की। इस प्रकार रूस में 300 वर्षों से स्थापित रोमानोव वंश के शासनकाल का अंत हो गया। इस नए सरकार की स्थिति प्रारंभ से ही काफी जटिल थी। सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि इस सरकार पर युद्ध संचालन का भार शुरू से ही आ पड़ा। इसके अतिरिक्त, सरकार को अपनी सत्ता स्थायी रखने हेतु उदार समाजवादियों की सहायता का सहारा लेना पड़ता था। इन राजनीतिक समस्याओं में जनता की विशेष दिलचस्पी नहीं थी एवं वह भोजन के अभाव तथा युद्ध से मुक्ति चाहती थी। परन्तु, करेन्सकी के नेतृत्व में गठित यह सरकार जनता की इस मांग की पूर्ति करने में असमर्थ थी। यही वह कारण था। जिससे जनता में उसके विरुद्ध व्यापक असंतोष फैला।

बोलशेविक क्रांति (नवम्बर , 1917) (Bolshevik Revolution : November, 1917)

करेन्सकी के नेतृत्व में गठित, अस्थायी सरकार मुख्यतः मध्यवर्ग की ही समर्थक थी। इस सरकार में मुख्य रूप से जमींदार, उद्योगपति एवं पूँजीवादी आदि शामिल थे। यह सरकार विशेषतः जनतांत्रिक एवं वैधानिक सरकार की स्थापना करना मित्रराष्ट्रों के साथ युद्ध जारी रखना, निजी संपत्ति के अधिकार को सुरक्षित रखना तथा रूस की समस्त संस्थाओं में वैधानिक उपायों द्वारा परिवर्तन लाना अपना परम उद्देश्य समझती थी। परन्तु, बोलशेविक इन मापदंडों से अधिक संबंध रखती थी। बोलशेविक अपने प्रसिद्ध युद्ध विरोधी नारों के कारण किसानों, मजदूरों एवं सैनिकों के बीच काफी लोकप्रिय हो गए। बोलशेविकों ने जनता से युद्ध बन्द करने, किसानों के बीच भूमि का वितरण तथा मजदूरों के हाथों उद्योगों की व्यवस्था सौंपने जैसे वादे किए। इस समय

बोलशेविकों के प्रसिद्ध नेता लेनिन ने स्थिति का अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला कि सैनिक, किसान एवं मजदूर जैसे विशाल जनसमूह तत्कालीन परिस्थिति के विरुद्ध क्रांति के पक्ष में हैं। इस आधार पर उसने अक्टूबर, 1917 में एक घोषणा की जिसके पश्चात् बोलशेविक सैनिकों द्वारा पेट्रोग्राड की सरकारी इमारतों, रेलवे स्टेशनों, तार एवं डाकघरों, पुलों, बैंकों आदि पर अधिकार जमा लिया गया। इस परिस्थिति में करेन्सकी रूस छोड़कर भाग गया और अब लेनिन के नेतृत्व में बोलशेविक शासन की शुरुआत हुई। इस तरह लेनिन के नेतृत्व में अक्टूबर/नवंबर 1917 की रूसी क्रांति सफल रही।

ज्ञातव्य है कि फरवरी/मार्च की क्रांति रूस में रोमानोव राजवंश की समाप्ति तथा अक्टूबर/नवंबर 1917 की रूसी क्रांति करेन्सकी के नेतृत्व में गठित अस्थायी अंतरिम सरकार के पतन का सूचक है। इस तरह लेनिन के नेतृत्व में नए बोलशेविक सरकार का गठन संभव हो पाया।

रूसी क्रांति के परिणाम

(Consequences of Russian Revolution)

20वीं शताब्दी के दूसरे दशक में सफल बोलशेविक क्रांति के फलस्वरूप तत्कालीन एवं दूरगामी प्रभाव हुए। तत्कालीन प्रभाव के अंतर्गत रूस में निरंकुश शासन की समाप्ति हो गई एवं कुलीन तथा चर्च की सत्ता का अंत हो गया। साथ ही, इस क्रांति के फलस्वरूप रूस में संसार के प्रथम समाजवादी सरकार की स्थापना हुई और इस प्रकार जार का साम्राज्य सोवियत समाजवादी गणराज्यों के संघ के रूप में परिवर्तित हो गया।

1917 ई. की रूसी क्रांति एक महत्वपूर्ण घटना मानी जाती है। प्रभाव की दृष्टि से इसका दायरा सिर्फ रूस तक ही सीमित नहीं था। वरन् इस क्रांति का प्रभाव वैश्विक था। इस क्रांति ने रूस में रोमानोव राजवंश के जारशाही सत्ता का सदा के लिए अंत कर दिया। साथ ही किसान-मजदूरों के नेतृत्व में समाजवादी शासन स्थापित हुआ। इतना ही नहीं, वैश्विक दृष्टि से देखें तो हम कह सकते हैं कि इस क्रांति की सफलता ने यूरोप में जो राजनीतिक चेतना उत्पन्न की उससे राजतंत्र विरोधी स्वर और अधिक प्रबल हो गए, जैसे आस्ट्रिया-हंगरी में हैप्सबर्ग राजवंश, जर्मनी में होहोन्जोलर्न राजवंश तथा तुर्की में खलीफा की सत्ता का अन्त हो गया।

यद्यपि प्रथम विश्वयुद्ध रूस की क्रांति का तात्कालिक कारण सिद्ध हुआ फिर भी इस युद्ध से पूर्व रूस राजनीतिक एवं आर्थिक दृष्टि से खोलखलेपन से ग्रसित भी था फिर भी विश्वयुद्ध के क्रम में रूस में व्यापक अर्थव्यवस्था एवं अराजकता वाली स्थिति से जनमानस बेहाल हो गया। इस परिस्थिति में सत्ता में आए बोलशेविक सरकार ने जर्मनी के साथ संधि कर रूस को युद्ध से अलग कर देने की घोषणा 1918 में कर दी।

नवगठित बोलशेविक सरकार द्वारा मार्क्सवादी विचारधारा को साकार रूप प्रदान किया गया और समाजवाद का वास्तविक स्वरूप सामने आया। यह विचारधारा मुख्यतः किसान, मजदूरों एवं दलित वर्गों के बीच अत्यंत ही लोकप्रिय हुई। रूस में सफल विचारधारा इसने अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप धारण कर लिया। समाजवादी विचारधारा विश्व स्तर पर प्रसारित होने लगी। इस प्रसिद्ध विचारधारा के अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रचार-प्रसार हेतु मार्च 1919 में प्रथम कम्युनिस्ट इंटरनेशनल (कॉमिन्टर्न) की स्थापना हुई।

वास्तव में प्रथम विश्वयुद्ध ने औपनिवेशिक साम्राज्यवाद की पोल खोल दी तथा इसका अमानवीय चेहरा सामने आया। अतिशय शोषण पर आधारित इस औपनिवेशिक व्यवस्था में उपनिवेशों की जनता प्रजातांत्रिक एवं नागरिक अधिकारों से पूर्णतः वंचित थी। इस बोलशेविक क्रांति के फलस्वरूप उपनिवेशों में चल रहे स्वतंत्रता आंदोलन तीव्र हुए। लेनिन की बागडोर संभालते ही सोवियत रूस को साम्राज्यवाद विरोधी घोषित किया तथा साम्राज्यवाद के विरुद्ध विश्व की जनता के प्रति सहानुभूति प्रकट की। इस घोषणा के परिणामस्वरूप एशिया एवं अफ्रीका के प्रायः सभी उपनिवेशों द्वारा सोवियत संघ को अपना स्वभाविक मित्र एवं समर्थक माना जाने लगा।

रूस की क्रांति से प्रभावित होकर औद्योगिक देशों के मजदूरों में संगठन का भाव जगा एवं वे अपनी दीन-हीन दशा से मुक्ति हेतु संघर्ष करने लगे। इसी संघर्ष के परिणामस्वरूप इन्हें कई सुविधाएं भी मिली। इसी श्रमिक संगठन की तीव्रता का उदाहरण हमें राष्ट्रसंघ के अंतर्गत श्रम संगठन की स्थापना के रूप में मिलता है।

क्रांति के पश्चात् जो समाजवादी व्यवस्था स्थापित हुई, उसके अधीन उत्पादन के विभिन्न साधनों जैसे भूमि, उद्योगों आदि का समाजीकरण हो गया। अर्थात् समाज की आवश्यकताएं उत्पादन का मूलधार बन गई।





पूँजीपतियों, जमींदारी; वर्गों, कुलीनों आदि को जो विशेषाधिकार प्राप्त थे, वे अब समाप्त हो गए। इस आर्थिक समानता वाली व्यवस्था के अंतर्गत बिना मुआवजे के व्यक्तिगत संपत्ति की अर्थव्यवस्था की नींव पड़ी और इस रूप में आर्थिक विकास की दर तीव्र हुई। इसी तीव्र आर्थिक विकास दर के आधार पर रूस 1929 के विश्वव्यापी आर्थिक मंदी के दुष्प्रभावों से अपनी अर्थव्यवस्थाओं को सुरक्षित रखने में सफल हो सका।

दरअसल, रूसी क्रांति का प्रभाव विश्वव्यापी था। मानव एवं नागरिक अधिकारों की घोषणा में निहित सिद्धांतों की तरह मार्क्स के विचारों को व्यापक रूप से लागू करने की बात तय की गई। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर समाजवादी आंदोलन का संगठन इसी का परिणाम माना जाता है। प्रथम समाजवादी आंदोलन होने के कारण रूसी क्रांति ने भावी घटनाक्रम को भी प्रभावित किया एवं संपूर्ण विश्व को एक नई सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था की स्थापना के दौर से गुजरना पड़ा।

लेनिन एवं उसकी सफलताएं (Lenin and His Achievements)

लेनिन का पूरा नाम व्लादीमीर इलिच उलियानोव लेनिन था। उसका जन्म 1869 में हुआ था। रूस का ऐसा व्यक्ति जिसने रूस को घोर राजनीतिक संकट से उबारकर उसे विश्व का पहला साम्यवादी राजनीतिक व्यवस्था प्रदान की। लेनिन मार्क्स के विचारों का पक्का अनुयायी था तथा उन्हीं विचारों के आधार पर उसने 1895 में मजदूरों का एक संगठन बनाया। परन्तु उसी वर्ष अपने क्रांतिकारी विचारों के कारण उसे गिरफ्तार कर साइबेरिया भेज दिया गया। 1917 की रूसी क्रांति के समय लेनिन जर्मनी की सहायता से स्वीट्जरलैंड से रूस आया। मार्च की क्रांति के फलस्वरूप करेन्सकी के नेतृत्व में स्थापित मेन्शेविक सत्ता की अलोकप्रियता का लाभ उठाकर लेनिन ने नवंबर क्रांति द्वारा बोलशेविक सत्ता को स्थापित किया। बोलशेविक सरकार का वह सर्वेसर्वा था।

सत्ता ग्रहण करने पर लेनिन ने सर्वप्रथम युद्ध समाप्त करना अपना परम उद्देश्य बनाया। 1918 में रूस ने प्रथम विश्वयुद्ध से अपने को अलग कर लिया एवं युद्ध से पूर्व के अपने यूरोपीय प्रदेशों के 1/4 भाग पर दावा त्याग दिया। इस एक-चौथाई भाग के अंतर्गत पोलैंड, लिथुआनिया, स्टोनिया, लाटविया एवं फिनलैंड के क्षेत्र आते थे इसके अतिरिक्त रूस ने तुर्की साम्राज्य में अपने सभी अधिकार छोड़ दिए। इस कदम से जहां एक ओर रूसी साम्राज्य की पराधीन जातियों को स्वतंत्रता मिली वहीं स्वयं रूस को अपनी आंतरिक स्थिति को संभालने का अवसर मिला।

लेनिन ने सत्ता संभालते ही भूमि से व्यक्तिगत अधिकार समाप्त कर दिया एवं किसानों को बिना कर दिए ही खेत जोतने का अधिकार दिया। इसके अलावा मजदूरों ने बड़े-बड़े उद्योगों का प्रबंधन अपने हाथ में संभाल लिया। इस प्रकार भूमि एवं उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। बोलशेविक सत्ता ने रेल, बैंक, खान सहित अन्य उद्योगों को सरकारी संपत्ति बना लिया। इस स्थिति में लेनिन ने जार द्वारा लिए गए देशी एवं विदेशी ऋण की अदायगी को रद्द कर दिया तथा उसे चुकाने से इनकार कर दिया। लेनिन की इन कारवाइयों से देशी पूँजीपति क्षुब्ध हो गए। इन पूँजीपतियों ने रूसी बोलशेविक सरकार के विरुद्ध आक्रामक तैवर अपना लिया, स्थिति ऐसी हो गई कि 1919 के अंत तक ऐसा लगने लगा कि साम्यवादी रूस ध्वस्त हो जाएगा। परन्तु, लेनिन ने इस विषम परिस्थिति का सफलतापूर्वक सामना किया। इस संबंध में उन्हें इस बात का अहसास हुआ कि यदि क्रांतिजन्य व्यवस्था की रक्षा नहीं की गई तो क्रांति की सार्थकता नहीं रह जाएगी। इस कारण से लेनिन ने क्रांतिविरोधी षड्यंत्रकारियों को दबाने हेतु 'चेका' नामक पुलिस संगठन कायम किया। इस पुलिस संगठन ने दृढ़तापूर्वक क्रांतिविरोधी सभी कारवाइयों को दबाया। यद्यपि 1917 की बोलशेविक क्रांति अपने शुरुआती समय में अहिंसक थी, परन्तु क्रांति के बाद सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक परिवर्तनों से होने वाले उपद्रवों को शांत करने के लिए क्रांति को हिंसक होना पड़ा। 1918-1922 के बीच हजारों व्यक्तियों को क्रांतिविरोधी कहकर मार डाला गया।

क्रांतिविरोधी आंतरिक तत्त्वों को काबू में करने के बाद लेनिन बाहरी शत्रुओं को नियंत्रण में लाने को प्रयत्नशील हुआ। इसके लिए ट्राट्स्की तथा स्टालिन को सीमाओं पर युद्ध के लिए भेजा गया जिससे आक्रमणकारी राष्ट्रों ने अपनी नाकाबंदी हटा ली और अंततः 1924 तक इटली, जर्मनी एवं इंग्लैंड ने बाध्य होकर बोलशेविक सरकार को मान्यता दे दी।



इन आंतरिक एवं विदेशी षड्यंत्रों एवं आक्रमणजनित समस्याओं के कारण रूस को गंभीर आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा। इस स्थिति में उत्पादन के सभी साधनों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया परन्तु बहुत से उद्योग धंधों में उत्पादन बढ़ने के बजाय तीव्र गति से घटने लगा। कृषि क्षेत्र में भी कमोबेश यही स्थिति आई। इसी परिप्रेक्ष्य में 1912 में लेनिन ने नई आर्थिक नीति जारी की जो नेप (NEP) कहलाई। इस नीति की एक प्रमुख विशेषता यह भी थी कि इसके अंतर्गत छोटे-छोटे उद्योगों में पूंजीतियों द्वारा 15-20 मजदूरों की सहायता से व्यक्तिगत रूप से काम करवाया जा सकता था इस नीति के तहत किसानों एवं पूंजीपतियों को निजी संपत्ति रखने एवं उसमें बढ़ोतरी करने की सुविधा मिली। इन प्रयत्नों से उत्पादन में वृद्धि हुई और आर्थिक संकट के रूप में उत्पन्न गंभीर समस्याओं का सफलतापूर्वक सामना किया जा सका। परन्तु यह प्रयास महज क्षणिक था। जब गंभीर आर्थिक संकट पर काबू पा लिया गया तो उक्त नीति को संशोधित कर मध्यम श्रेणी के पूंजीपतियों तथा किसानों के उत्पादन साधनों पर पुनः सरकारी नियंत्रण कर लिया गया।

वास्तव में रूस में औद्योगीकरण की महत्ता को रेखांकित करते हुए लेनिन ने औद्योगिक विकास के लिए रूस के विद्युतीकरण पर विशेष ध्यान दिया। वह विद्युतीकरण को समाजवाद का ही पर्याय मानता था। लेनिन ने बांधों का निर्माण कर विद्युत उत्पादन को यथेष्ट रूप से प्रोत्साहन दिया।

लेनिन का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य सामाजिक एवं सांस्कृतिक समस्याओं के समाधान हेतु यथेष्ट प्रयास करना था। परंपरागत रूप से रूसी समाज में महिलाओं की स्थिति पराधीनता वाली थी। नए संविधान के तहत महिलाओं को पुरुषों के समान अधिकार प्रदान किए गए तथा देश के आर्थिक जीवन में उन्हें भाग लेने का पूर्ण अवसर प्रदान किया गया। इतना ही नहीं चर्च की कूपमंडूकता, रूढ़िवादिता और अंधविश्वास पर अंकुश लगाकर उसकी ज्यादाती को नियंत्रित किया गया।

लेनिन का महत्वपूर्ण योगदान रूस के लिए एक सर्वसम्मत संविधान का निर्माण करना भी था। क्योंकि नई राजनीतिक व्यवस्था के लिए एक संविधान की आवश्यकता महसूस की गई। 1918 में सोवियत की राष्ट्रीय कांग्रेस ने रूस का एक संविधान तैयार किया। अमेरिका तथा फ्रांसीसी क्रांति के समान ही यहां के संविधान में भी मौलिक अधिकारों की घोषणा की गई। इस प्रसिद्ध घोषणा में यह बात स्पष्ट रूप से शामिल थी कि प्रत्येक मनुष्य को काम करने का अधिकार है और ऐसा वातावरण बनाने का वचन दिया गया जिसमें यह अधिकार कारगर हो सके। यह एक ऐसा अधिकार था जिसे अब तक किसी देश के संविधान में समावेशित नहीं किया गया था। इस नए संविधान के तहत लोगों को विचार और अभिव्यक्ति, प्रेस आदि की स्वतंत्रता दी गई। यह स्वतंत्रता उसी सीमा तक सीमित थी जहां तक रूस की समाजवादी व्यवस्था पर कोई खतरा न हो। इसके अलावा 1924 में संपूर्ण देश को समाजवादी प्रजातंत्रों का संघ (Federal Union of the Socialist Republic) घोषित किया गया। इस संबंध में सभी रूसी जातियों को आत्मनिर्णय का अधिकार अर्थात् यदि वे चाहे तो संघ में शामिल हो जाएं या संघ से हट जाएं, का विकल्प दिया गया। सर्वोच्च विधान निर्मात्री संस्था सोवियत कांग्रेस के हाथों में सौंपी गई।

स्टालिन: नीतियां एवं कार्य (Stalin: Policies and Functions)

1924 ई. में लेनिन की मृत्यु के बाद रूस का नेतृत्व स्टालिन के हाथों में आया। स्टालिन का यह पूर्ण विश्वास था कि अकेले रूस में भी समाजवाद का विकास संभव है। स्टालिन का यह विचार मार्क्सवाद की मूल अवधारणाओं से मेल नहीं खाती थी जिसमें यह स्वीकार किया जाता था कि सर्वहारा क्रांति किसी एक देश या विशेष की सीमाओं के अंतर्गत सीमित नहीं किया जा सकता है। ट्राट्स्की स्टालिन के विचारों से भिन्न विचार रखता था। उसके अनुसार-पूंजीवाद के विनाश के लिए विश्व क्रांति की जरूरत है, लेकिन इस समय रूस जैसे पिछड़े देश में जहां तकनीकी ज्ञान का अभाव है इसलिए अकेले समाजवादी व्यवस्था का निर्माण हो पाना संभव नहीं है। स्टालिन द्वारा ट्राट्स्की के इस विचार का विरोध किया गया परिणामतः ट्राट्स्की को देश छोड़ना पड़ा। स्टालिन के अनुसार, यदि प्रत्यक्ष रूप से पूंजीवादी देशों से युद्ध किया जायें तो रूस को जबर्दस्त हानि है, जबकि रूस के किसान-मजदूर अपने बल पर ही समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने में सक्षम हैं। स्टालिन के इन विचारों के कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा समर्थन दिया गया।

सत्ता में आते ही स्टालिन ने भूमि पर लगान लेने की अनुमति दे दी। इससे प्रेरित होकर कुछ किसानों ने भूमि को पट्टे पर ले लिया। स्टालिन की इस नीति के फलस्वरूप किसानों के तीन वर्ग यथा निर्धन, मध्यम



एवं धनी किसान अस्तित्व में आए। वर्गभेद समाप्त करने के लिए जहां एक ओर धनी किसानों पर कर लगाया गया वहीं दूसरी ओर निर्धन किसानों को कर मुक्त कर दिया। परन्तु, इसके बावजूद भी वर्गभेद पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हो सका। स्वभाविक रूप से इस स्थिति में वर्गभेद को ध्यान में रखकर धनी किसानों का अंत करने हेतु सामूहिक कृषि को प्रोत्साहन दिया गया। कृषि के नए औजारों के प्रयोग को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया गया। राज्य द्वारा सामूहिक खेती हेतु औजार के रूप में ट्रैक्टर जैसी सुविधा प्रदान की गई। परन्तु इसका एक असंतोषजनक रूप यह भी था कि राज्य के पास इतने ट्रैक्टर उपलब्ध नहीं थे कि वे मांग को पूरा कर सकें। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि बहुत सी जमीनें बिना खेती के खाली रहने लगीं, उपज कम हो गई एवं अकाल की आशंका बढ़ गई।

स्टालिन ने देश को आत्मनिर्भर और विकसित अर्थव्यवस्था में ढालने के लिए पंचवर्षीय योजनाओं को अपनाया। रूस के पक्ष में एक बड़ा आधार वह था कि यहां प्राकृतिक संसाधनों की प्रमुखता थी। इसी आधार पर पंचवर्षीय योजना को अपनाया गया। यह योजना मूलतः मार्क्सवादी धारण पर आधारित थी। इन प्रसिद्ध योजनाओं में जन-साधारण के आवश्यकताओं की समग्र रूपरेखा प्रस्तुत की गई थी और उसी के अनुरूप उद्योग-धंधों, कृषि तथा शिक्षण संस्थाओं आदि को प्रोत्साहित किया गया। वास्तव में इस योजना के परिणामस्वरूप रूसी जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों में व्यापक उन्नति हुई।

स्टालिन ने रूस को एक साक्ष्य राष्ट्र बनाने के लिए भी सफल प्रयास किया। इस संबंध में पंचवर्षीय योजनाओं के कारण शिक्षा के प्रसार-प्रसार हेतु भारी संख्या में स्कूल खोले गए। प्राथमिक शिक्षा को निःशुल्क एवं अनिवार्य कर दिया गया। रूसी भाषा सहित अन्य भाषाओं में भी पुस्तक प्रकाशित करने की व्यवस्था की गई। इस शिक्षा व्यवस्था का एक और भी पक्ष था-वैज्ञानिक एवं तकनीकी शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाना। शिक्षा संबंधी इन विभिन्न प्रयासों के फलस्वरूप रूस ने वैज्ञानिक एवं तकनीकी शिक्षा क्षेत्र में काफी प्रगति की। इसके अलावा स्टालिन द्वारा जातियों के सांस्कृतिक विकास को पूर्ण अवसर प्रदान किया गया। देश में लोगों को कम से कम दो भाषाओं में शिक्षा की व्यवस्था की गई। उच्च शिक्षाका प्रबंध भी जातीय भाषा के माध्यम से किया गया। गौरतलब है कि जार द्वारा रूसीकरण की नीति द्वारा जातीय संस्कृति को दबा दिया गया था। परन्तु, अब रूस को भाषायी आधार पर प्रजातंत्रों में विभक्त किया गया एवं प्रत्येक प्रजातंत्र की सरकार अपनी भाषा में ही कानून बनाती थी साथ ही वह शिक्षा की व्यवस्था भी करती थी।

स्टालिन की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी-रूस का एक नया संविधान। 1918 में लेनिन कालीन निर्मित संविधान को 1936 में स्टालिन ने आवश्यक संशोधन कर प्रस्तुत किया। इस संविधान में सरकारी तथा सामूहिक समाजवादी संपत्ति की व्याख्या की गई। इसके अंतर्गत जमीन, जंगल, खानें, बैंक एवं आवागमन के साधन समाजवादी सरकार की संपत्ति घोषित की गई। नए संशोधित संविधान में नागरिकों को अपनी व्यक्तिगत संपत्ति उस हद तक रखने का अधिकार प्राप्त हुआ जिस हद तक उसे अपनी निजी उपयोग में लगाया जा सके एवं दूसरों के श्रम का शोषण न हो। इस संविधान के तहत संसद का नाम “सुप्रीम सोवियत ऑफ द यू एस एस आर” रखा गया। 18 वर्ष की आयु वर्ग वाले सभी व्यक्ति को वोट देने का अधिकार दिया गया। सभी नागरिकों को काम पाने का भी अधिकार दिया गया।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि स्टालिन ने रूस को प्रगति के पथ पर अग्रसर कर द्वितीय विश्वयुद्ध में नाजी जर्मनी का सामना करने के लिए तैयार किया और द्वितीय विश्वयुद्ध में रूस सफल रहा।



5. इटली का एकीकरण (Unification of Italy)

19वीं शताब्दी में यूरोपीय देशों के मध्य इटली महज एक 'भौगोलिक अभिव्यक्ति' के रूप में था। इस समय इटली एक विखंडित क्षेत्र था, जो लगभग एक दर्जन स्वतंत्र राज्यों में बंटा हुआ था। इनमें से प्रत्येक राज्यों के शासकों के हित परस्पर टकराते रहते थे। ये सभी शासक इटली की राजनीतिक एकता के प्रबल विरोधी थे क्योंकि इटली की एकता के फलस्वरूप उन्हें अपनी गद्दी से हाथ धोने की आशंका थी। ऑस्ट्रिया का दबदबा भी इटली की राजनीति में था।

लेकिन इटली के इन विभिन्न राज्यों के शासकों के न चाहते हुए भी 19वीं शताब्दी में कुछ ऐसी घटनाएं घटी, जिसके फलस्वरूप इटली में राष्ट्रवाद का उदय संभव हो सका। इस दौरान बहुत सी क्रांतिकारी संस्थाओं का जन्म हुआ जिसने इटली के एकीकरण में बढ़-चढ़कर भाग लिया और अंततोगत्वा 1870 ई. में एक राष्ट्र के रूप में इटली का उदय हुआ। इटली के एकीकरण की प्रक्रियाओं को ठीक ढंग से समझने के लिए पहले हम यह देखते हैं कि इटली के एकीकरण के मार्ग में कौन-कौन सी प्रमुख बाधाएं थीं।

एकीकरण में बाधाएं (Obstacles in Unification)

इटली के एकीकरण के मार्ग में अनेक आंतरिक एवं बाह्य बाधाएं थी। आंतरिक बाधाओं के अंतर्गत प्रथम तो यह कि देश की बहुसंख्यक जनसंख्या अशिक्षित एवं गरीब थी जिन्हें राष्ट्रीय एकता जैसे विषयों में कोई दिलचस्पी नहीं थी। यद्यपि वे प्रबुद्ध एवं व्यापारी वर्ग हितों के संरक्षण तथा अधिक लाभ पाने की आशा से राष्ट्रीय एकता को आवश्यक मानते थे, परन्तु यह बात विशेष महत्व रखती है कि बिना आम जनता की जागरूकता एवं भागीदारी के राष्ट्रीय एकता व्यावहारिक दृष्टि से संभव नहीं थी। द्वितीय तत्कालीन इटली में अनेक छोटे-छोटे राजा राज्य कर रहे थे और उन्हें डर था कि राष्ट्रीय एकता के लिए चलाए गए आंदोलन उनके निरंकुश राजतंत्र तथा राजगद्दी के लिए खतरा साबित हो सकते हैं क्योंकि एकीकृत इटली में एक ही राजा हो सकता था। तृतीय आंतरिक बाधाओं के अंतर्गत राजतंत्र का विरोध तो था ही साथ में वहां के कुलीन वर्ग का भी विरोध था, क्योंकि वे वहां पर स्वयं वे वहां को चर्च, धर्मसंघ तथा शक्ति का रक्षक मानते थे और ऑस्ट्रिया का विरोध इन सभी का संरक्षक था। चतुर्थ, आर्थिक दृष्टिकोण से इटली में क्षेत्रीय आधार पर व्याप्त क्षेत्र था। पांचवा, एकीकरण के मार्ग में सामंत वर्ग एवं कुलीन वर्ग ही प्रमुख बाधक तत्व थे, जो सामंतवादी एवं जागीरदारी प्रथा को और भी मजबूत कर अपना प्रभाव बढ़ाना चाहते थे। चूंकि इटली में औद्योगिक पिछड़ापन अधिक था, अतः ऐसी स्थिति में जमीन के मालिकों का समाज में काफी वर्चस्व था। वे वर्ग अपने वर्गीय हितों की रक्षा हेतु राष्ट्रीय एकता को एक गंभीर समस्या मानते थे। छठा, इतनी गंभीर कठिनाइयों के बावजूद इटली में प्रांतीयता, संवैधानिकता एवं उदारवाद की भावनाएं भी प्रबल थीं। एकीकरण के संबंध में मुख्यतः तीन विचारधाराओं का उदय हुआ -

- (a) 'मेजिनी का गणतंत्रवादी सिद्धांत' अर्थात् मेजिनी इटली का एकीकरण एक गणराज्य के रूप में चाहता था। गैरीबाल्डी भी इस मत का समर्थक था।
- (b) 'जोजाबर्टी का संघीय राज्य का सिद्धांत' अर्थात् जोजाबर्टी पोप के अधीन इटली के प्रत्येक राज्यों के संघ का समर्थन करता था।
- (c) कावूर सार्डीनिया नामक राज्य परिवार के अधीन इटली का एकीकरण चाहता था। वह मूलतः संवैधानिक तथा सीमित राजतंत्र के सिद्धान्तों का समर्थक था। अतः कहा जा सकता है कि इन सभी का लक्ष्य तो इटली का एकीकरण ही था परन्तु उनकी पद्धति एवं उनके विचार में अंतर था।

बाह्य बाधाओं के अंतर्गत प्रथम बाधा थी- इटली में ऑस्ट्रिया का व्यापक प्रभाव। वास्तव में ऑस्ट्रिया के अधीन इटली के दो प्रांत-लोम्बार्डी एवं वेनेशिया थे। अतः निश्चित रूप से इटली में उसका प्रत्यक्ष स्वार्थ था और यही कारण था जिसके चलते इटली में चल रहे किसी आंदोलन को दबाने के लिए वह अपने आपको नैतिक रूप से जिम्मेदार मानता था। इसके अलावा 1815 की वियना कांग्रेस के अनुसार, ऑस्ट्रिया का चांसलर मेटर्निख अपने आपको 'यूरोप का पुलिस' समझता था और इस रूप में वह किसी भी यूरोपीय देशों में उदारवादी तथा राष्ट्रवादी आंदोलन को कुचलना अपना परम कर्तव्य मानता था। लोम्बार्डी एवं वेनेशिया जैसे इटली के प्रांत पर प्रत्यक्ष शासन के अतिरिक्त ऑस्ट्रिया से संबंधित राजपरिवार विभिन्न प्रांतों जैसे परमा, मेडोना एवं टस्कनी में भी शासन कर रहे थे अतः ऑस्ट्रिया द्वारा यह बात कतई स्वीकार नहीं की जा सकती थी कि इटली में





राष्ट्रीय एकता के फलस्वरूप इसके प्रभाव पर किसी भी प्रकार का खतरा उत्पन्न हो। एकीकरण में द्वितीय बड़ी बाधा थी- इटली में पोप की उपस्थिति। मध्य इटली में स्थित रोम पर पोप की सत्ता कायम थी। विखंडित इटली में रोम स्थिति पोप के राजतंत्र का पर्याप्त अंतर्राष्ट्रीय धार्मिक महत्त्व था। यूरोप के कैथोलिक देश किसी भी हालत में पोप की सत्ता को नष्ट होने नहीं देना चाहते थे। साथ ही पोप को भय था कि इटली के एकीकरण से अन्य छोटे-छोटे राज्यों में उसके हस्तक्षेप के अधिकार समाप्त हो जाएंगे तथा ऐसा भी न हो जाये कि राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत एकीकृत इटली पोप के धार्मिक अधिकार को ही चुनौती दे बैठे। इसी डर और शंका के कारण एकीकरण के मुद्दों पर पोप अवरोध उत्पन्न करते रहते थे।

एकीकरण: प्रक्रिया एवं विकास (Unification: Process and Development)

एकीकरण जैसे महत्वाकांक्षी कार्यों के मार्ग में अनेक बाधक तत्वों के बावजूद इटली में राष्ट्रीयता का प्रसार हुआ। इटली की पर्याप्त सांस्कृतिक एकता ने इस दिशा में सकारात्मक भूमिका अदा की। यद्यपि इटली अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था परन्तु नस्ल, धर्म एवं भाषा के मामलों में सुखद स्थिति यह थी कि वहां इतालवी भाषा तथा रोमन कैथोलिक धर्म प्रचलित था, जिससे लोगों में आपसी भाईचारे की भावना अंतर्निहित थी। फलतः वहां राष्ट्रीय एकता का मार्ग प्रशस्त हुआ।

फ्रांसीसी क्रांति और नेपोलियन बोनापार्ट की एकीकरण में भूमिका

(French Revolution and Role of Napoleon Bonaparte in Unification)

नेपोलियन के विजय अभियानों से इटली में राष्ट्रीय चेतना में तीव्र वृद्धि हुई। फ्रांसीसी क्रांति के प्रसिद्ध नारे-‘स्वतंत्रता, समानता एवं बंधुत्व’ की भावना से ओत-प्रोत यह बहुमूल्य आदर्श नेपोलियन की सफल इटली विजय के क्रम में वहां प्रसारित हुआ। वह नारा एक ऐसा प्रभावशाली हथियार था जिससे इटली की जनता काफी प्रभावित हुई और इस प्रभाव के कारण ही उन्होंने नेपोलियन का ताहे दिल से स्वागत किया। 1796-1814 ई. (लगभग दो दशकों की लंबी अवधि) तक इटली में फ्रांस का शासन बना रहा। सम्राट बनने के पश्चात नेपोलियन द्वारा इटली के बूबों शासकों एवं ऑस्ट्रिया की सत्ता को समाप्त कर दिया गया। साथ ही पोप की सत्ता को भी सीमित कर दिया गया। इटली के कई छोटे-छोटे राज्यों पर अधिकार स्थापित कर फ्रांस की प्रभुता को स्थापित किया गया। इटली के कुल राज्यों को मिलाकर संपूर्ण इटली को तीन खंडों में विभाजित किया गया। और इस रूप में यह असंभव नहीं दिखता था कि इटली का एकीकरण हो पाना महज समय की बात है। नेपोलियन के इस प्रयत्न से इटली में राजनैतिक एकीकरण की कल्पना साकार होने की बात सामने आने लगी थी। 1815 ई. में नेपोलियन की पराजय के बाद इटली के राजा मुरत ने अपने अधीन संपूर्ण इटली की एक कल्पना भी की तथा साथ ही उसने इतालवी संघ की भी घोषणा कर दी थी, परन्तु इस योजना पर अमल नहीं हो सका। इससे पूर्व ही वहां पुनः प्रतिक्रियावादी शासन व्यवस्था ने अपने पैर जमा लिए। लेकिन यह क्षणभर एकीकरण इटली के बुद्धिजीवियों के लिए अमूल्य प्रेरणास्रोत बन गया। इटली में लगभग दो दशकों तक नेपोलियन के शासन के फलस्वरूप वहां फ्रांसीसी कानून संग्रह, माप-तौल एवं प्रशासनिक व्यवस्थाएं लागू की गईं। इससे इटली में राष्ट्रवादी भावना का बीजारोपण हुआ और फ्रांसीसी शासन से निजात पाने हेतु इटलीवासियों ने कई सार्थक प्रयास किए। इसी संदर्भ में काबोनरी नामक एक गुप्त क्रांतिकारी संगठन अस्तित्व में आया जिसका इटली के वृहद भागों पर प्रभाव स्थापित हुआ। अतः नेपोलियन के शासन ने इटली में राष्ट्रवादी भावनाओं के संचार में अमूल्य योगदान दिया, इसलिए नेपोलियन को ‘इटली में राष्ट्रवाद का जन्मदाता’ कहा जाता है।

हालाँकि नेपोलियन ने इटली में राष्ट्रवादी एवं लोकतांत्रिक भावनाओं को जागृत किया परन्तु इसमें भी कोई दो राय नहीं कि नेपोलियन के पतन के बाद यह भावना क्षीण पड़ने लगी। मेटर्निख की एक लंबी अवधि इस बात को प्रमाणित करती है कि ऑस्ट्रिया बिना किसी विशेष कठिनाई के इटली पर अपना व्यापक प्रभाव स्थापित करने में सफल रहा।

1815 के वियना व्यवस्था के तहत इटली में पुनः पुरातन व्यवस्था को कायम किया। इटली एक बार पुनः छोटे-छोटे सामंती राज्यों में विभक्त हो गया। ये सभी राज्य राज्यतंत्र, रूढ़िवादी चर्च तथा कुलीन वर्गों के अधीन हो गए। अतः हम कह सकते हैं कि वियना व्यवस्था से नेपोलियन द्वारा इटली में किए गए सारे प्रयास धुमिल हो गए।

एकीकरण का प्रथम चरण (कावूर का योगदान)

(First Phase of Unification (Contribution of Cavour))

कावूर सार्डीनिया के नेतृत्व में इटली के एकीकरण को सम्पन्न करना चाहता था। वह इस बात से अच्छी तरह परिचित था कि इटली के एकीकरण के मार्ग में ऑस्ट्रिया एक बड़ी बाधा है। अतः ऑस्ट्रिया को बिना बाहर किए एकीकरण सफल नहीं हो सकता था और ऑस्ट्रिया को बाहर निकालने हेतु बाह्य सहायता आवश्यक रूप से अपेक्षित थी। इस मामले में सार्डीनिया को सिर्फ फ्रांस एवं इंग्लैंड से ही मदद की आशा दिखाई दे रही थी। अतः कावूर इटली के एकीकरण के लिए अंतर्राष्ट्रीय सहानुभूति प्राप्त करने हेतु इटली के प्रश्न को अंतर्राष्ट्रीय बनाना जरूरी समझता था। संयोगवश इसी समय 1854 ई. में रूस तथा तुर्की के बीच प्रसिद्ध क्रीमिया का युद्ध छिड़ गया। इस युद्ध में इंग्लैंड तथा फ्रांस ने तुर्की की ओर से युद्ध में भाग लिया। इस समय कावूर ने भी सार्डीनिया की ओर से सेना भेजकर इंग्लैंड एवं फ्रांस की सहायता की। इस सहायता से सार्डीनिया के प्रति इंग्लैंड एवं फ्रांस में सहानुभूति की भावना मुखरित हुई। क्रीमिया युद्ध में विजय के उपरान्त आयोजित पेरिस शांति सम्मेलन में ऑस्ट्रिया के विरोध के बावजूद इंग्लैंड एवं फ्रांस के समर्थन से सार्डीनिया को विजय पंक्ति में बैठने का अवसर प्राप्त हुआ। इस सम्मेलन में इटली को अपनी वास्तविक स्थिति रखने का प्रथम सफल अवसर मिला तथा इटली की दुर्दशा हेतु मुख्य रूप में ऑस्ट्रिया के उत्तरदायित्व को रेखांकित किया गया। क्रीमिया युद्ध के पश्चात फ्रांस का तत्कालीन शासक नेपोलियन तृतीय इटली की मदद हेतु तैयार हो गया और पीडमोंट-सार्डीनिया के साथ प्लांबियर्स का समझौता हुआ। इस समझौते के तहत फ्रांस द्वारा ऑस्ट्रिया के विरुद्ध पीडमोंट-सार्डीनिया को सैन्य सहायता देकर लोम्बार्डी एवं वेनेशिया नामक दो ऑस्ट्रियाई राज्य पीडमोंट को दिए जाने की बात तय हुई। बदले में पीडमोंट-सार्डीनिया द्वारा भी इटली के नीस एवं सेवाय का क्षेत्र फ्रांस को दिए जाने की बात तय की गई। हालांकि कावूर इटली के एकीकरण के पक्ष में था न सिर्फ ऑस्ट्रिया को इटली से बाहर निकालने के पक्ष में परन्तु तब भी उसने नीस एवं सेवाय के क्षेत्र फ्रांस को दिए जाने संबंधी प्लांबियर्स संधि की शर्तों का स्वीकार कर लिया। अंततः ऑस्ट्रिया द्वारा पीडमोंट-सार्डीनिया के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया गया और स्थिति में फ्रांस भी ऑस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध में शामिल हो गया। इस युद्ध में शुरू में इटली के प्रमुख ऑस्ट्रियाई राज्य लोम्बार्डी को मुक्त करा लिया गया। परन्तु कुछ ही दिनों में नेपोलियन तृतीय ने इस युद्ध से स्वयं को अलग कर लिया और ऑस्ट्रिया के साथ विलाफ्रेन्का की संधि कर ली। इस बदली हुई स्थिति में भी कावूर ऑस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध जारी रखना चाहता था परन्तु पीडमोंट-सार्डीनिया के तत्कालीन शासक विक्टर इमैनुएल ने इस बात की अनुमति नहीं दी। अतः एकीकरण के इस प्रथम चरण में नेपोलियन तृतीय की सहायता से लोम्बार्डी की प्राप्ति हुई। 1859 ई. में ज्यूरिख की संधि के अनुसार लोम्बार्डी पीडमोंट-सार्डीनिया को मिला तथा वेनेशिया पर ऑस्ट्रियाई अधिकार पूर्ववत् बना रहा। यह बात जगजाहिर हो गई कि इटली का एकीकरण पीडमोंट-सार्डीनिया के नेतृत्व में ही संभव हो सकेगा।

एकीकरण का द्वितीय चरण (Second Phase of Unification)

ज्यूरिख की संधि के शर्तों के अनुसार पीडमोंट पर सैन्य बल के प्रयोग पर प्रतिबंध लगा दिया गया परन्तु जन आंदोलन के मामले पर यह संधि मौन थी। यह पक्ष इसलिए ज्यादा महत्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि जिस समय ऑस्ट्रिया व इटली के बीच युद्ध चल रहा था उसी समय ऑस्ट्रिया के प्रभाव क्षेत्र वाले मध्य इटली के राज्य-परमा, मोडेना, टस्कनी और साथ ही पोप के राज्य जैसे बोलेगना एवं रोमेगना में जनता ने तीव्र विद्रोह कर दिया, जिससे वहां के शासकों को अपना-अपना राज्य छोड़कर भागना पड़ा। इन क्षेत्रों की जनता ने पीडमोंट-सार्डीनिया से अपने राज्यों में इन क्षेत्रों के विलय हेतु आग्रह किया। अंततः कावूर की सक्रियता से जनमत संग्रह के आधार पर 1860 ई. में परमा, मोडेना, टस्कनी, रोमेगना एवं बोलेगना जैसे राज्य पीडमोंट-सार्डीनिया में मिल लिए गए। अब वेनेशिया को छोड़कर उत्तरी एवं मध्य इटली के मिलने से एक शक्तिशाली इटली राज्य अस्तित्व में आया। इस संबंध में सन् 1860 में पीडमोंट-सार्डीनियाई शासक विक्टर बेसियो (Turin) में संयुक्त की संसद का उद्घाटन किया गया। इसी के साथ इटली के एकीकरण का द्वितीय चरण सफल हुआ।





एकीकरण का तृतीय चरण (गैरीबाल्डी की भूमिका)

(Third Phase of Unification (Role of Garibaldi))

इटली के एकीकरण का यह चरण गैरीबाल्डी के जोश, त्याग एवं कावूर की सफल दूरदर्शिता से संभव हो सका। इस चरण में सिसली एवं नेपल्स दो इतावली राज्य का एकीकरण पीडमोंट-सार्डीनिया के साथ हुआ। मुख्य रूप से यह एकीकरण कावूर की सफल कूटनीति एवं गैरीबाल्डी की तलवार के सफल प्रयोग का परिणाम था। ये दोनों राज्य इटली के दक्षिणी क्षेत्र में अवस्थित थे। इस राज्य की जनता अत्याचारी शासक के विरुद्ध विद्रोह करती रहती थी। 1860 ई. में जब नेपल्स एवं सिसली की जनता का विद्रोह जोरों पर था, गैरीबाल्डी ने वहां की जनता के आग्रह पर लाल कुर्ती कहे जाने वाले एक हजार स्वयंसेवकों की सहायता से सिसली को जीत लिया। सिसली विजय के उपरान्त गैरीबाल्डी स्वयं को विक्टर इमैन्यूएल के नाम से वहां का अधिनायक घोषित किया। इस कड़ी में नेपल्स पर भी आक्रमण कर उसे जीत लिया गया। इस विजय से उत्साहित होकर गैरीबाल्डी ने इटली के शेष बचे क्षेत्र वेनेशिया और रोम पर भी आक्रमण करने की योजना बनाई। ऐसी स्थिति में ऑस्ट्रिया एवं फ्रांस के साथ युद्ध छिड़ सकता था क्योंकि वेनेशिया ऑस्ट्रिया के अधिकार में था और रोम में पोप की सुरक्षा हेतु फ्रांसीसी सेना तैनात थी। अतः स्थिति की गंभीरता को देखते हुए यह जरूरी था कि गैरीबाल्डी के इस उत्साहपूर्ण कदम को रोका जाये। इस स्थिति में कावूर ने दूरदर्शिता का परिचय देते हुए समस्या का सफलतापूर्वक समाधान किया। अंततः सिसली एवं नेपल्स में जनमत संग्रह के आधार पर उसे पीडमोंट-सार्डीनिया में मिला लिया गया।

एकीकरण का चतुर्थ चरण (Fourth Phase of Unification)

इटली के शेष बचे दो राज्यों-वेनेशिया एवं रोम का एकीकरण होना शेष था। इस स्थिति में प्रशा-इटली सहयोग काफी कारगर साबित हो सकता था। इसी को ध्यान में रखकर प्रशा और इटली के मध्य एक संधि हुई जिसके तहत प्रशा-ऑस्ट्रिया के बीच युद्ध होने की स्थिति में इटली द्वारा प्रशा को सैन्य सहायता एवं बदले में प्रशा द्वारा इटली के वेनेशिया का प्रांत दिलाना तय हुआ। 1866 ई. में प्रशा-ऑस्ट्रिया के मध्य होने वाले सेडोवा के युद्ध में प्रशा की विजय तत्पश्चात् प्राग की संधि के अनुसार वेनेशिया पर से ऑस्ट्रियाई नियंत्रण समाप्त हो गया और वेनेशिया का क्षेत्र पीडमोंट-सार्डीनिया के नेतृत्व में इटली में शामिल हो गया।

एकीकरण का अंतिम चरण (Last Phase of Unification)

अब सिर्फ इटली में रोम का राज्य ही शेष था। यह अवसर तब आया जब 1870 ई. में फ्रांस-प्रशा के मध्य सेडान का युद्ध छिड़ गया। इस स्थिति में फ्रांस द्वारा पोप के राजतंत्र की सुरक्षा हेतु रोम में उपस्थिति सेना को वापस बुला लिया गया। पीडमोंट-सार्डीनियाई शासक विक्टर इमैन्यूएल द्वितीय ने इस परिस्थिति का लाभ उठाते हुए रोम को जीत लिया। इसके बाद वहां हुए जनमत संग्रह के आधार पर इटली के एकीकरण की प्रक्रिया पूर्ण हुई तथा रोम संयुक्त इटली की राजधानी बनी। एकीकृत इटली विश्व के मानचित्र पर एक बड़ी शक्ति बनकर उभरी और इस तरह 1815 की वियना व्यवस्था द्वारा स्थापित मापदंड ध्वस्त हो गए।

इटली के एकीकरण के महत्वपूर्ण व्यक्तित्व

(Important Personalities in Unification of Italy)

- मेजिनी-मेजिनी का जन्म 1805 ई. में जेनेवा में हुआ था 1820 ई. में वह कार्बोनरी नामक गुप्त क्रांतिकारी संस्था का सदस्य बना। 1830 ई. में फ्रांस में हुई क्रांति से प्रभावित होकर जब पीडमोंट के देशभक्तों द्वारा राजतंत्र के विरुद्ध विद्रोह किया गया तो मेजिनी ने भी इस विद्रोह में बढ़-चढ़कर भाग लिया, हालाँकि यह प्रयास निष्फल रहा। मेजिनी ने यह अनुभव किया कि कार्बोनरी के सिद्धांत तथा योजनाएं इटली को विदेशी शिकंजे से मुक्त नहीं कर सकती हैं। अतः उसने इसके लिए इटालियन युवकों में देशभक्ति एवं सच्चरित्रता की भावना को काफी अहमियत प्रदान की। उसे विश्वास था कि इसी शक्ति के आधार पर ही इटली को विदेशी दासता से मुक्त कराकर एकता के सूत्र में बांधा जा सकता है। इसी को ध्यान में रखकर मेजिनी ने 1831 ई. में 'यंग इटली' नामक संस्था की स्थापना की। यह एक गुप्त संस्था थी जिसकी अनेक शाखाएं इटली में खोली गईं। इस संस्था का उद्देश्य एवं कार्यप्रणाली इटलीवासियों में देश



- प्रेम, राष्ट्र के एकीकरण की अनिवार्यता, प्राचीन राष्ट्रीय गौरव एवं देश के लिए त्याग और बलिदान की भावना जागृत करना था। मेजिनी आदर्शवादी तथा गणतंत्रवादी समर्थक था। वह विदेशी सत्ता की समाप्ति एवं इटली की स्वतंत्रता हेतु विदेशी सत्ता में सहायता को निर्मूल समझता था। 1848 ई. में क्रांति तथा मेटर्निख का ऑस्ट्रिया छोड़कर भागना दोनों ऐसी घटनाएं थीं जिनसे प्रेरित होकर इटली में ऑस्ट्रियाई अधिकार क्षेत्र लोम्बार्डी में वहां की जनता द्वारा विद्रोह कर दिया गया। पोप के राज्य वाले इलाके में भी विद्रोह हुआ तथा 1849 में वहां गणतंत्र की स्थापना हुई। तत्पश्चात् मेजिनी को वहां का राष्ट्रपति बनाया गया तथा गणतंत्र की रक्षा का भार गैरीबाल्डी को सौंपा गया। परन्तु यह सफलता कम समय तक ही बरकरार रह सकी और क्रांति विफल हो गई। यद्यपि एकीकरण के संबंध में मेजिनी की कोई भूमिका रेखांकित नहीं की जा सकती परन्तु इतना तो तय है कि मेजिनी के अथक प्रयासों से इटली में देशभक्ति की भावना का अधिकतम प्रसार हुआ जिससे एकीकरण का मार्ग प्रशस्त हुआ।
2. कावूर-इटली के एकीकरण में कावूर की भूमिका काफी महत्वपूर्ण है। एकीकरण की प्रक्रिया को ठोस आधार पर प्रदपन करने का श्रेय उसे दिया जाता है। कावूर का जन्म 1810 ई. में तूरिन (Turin) में हुआ था। वह इंग्लैंड के संसदीय शासन प्रणाली से विशेष रूप से प्रभावित था। 1852 ई. में वह पीडमोंट-सार्डीनिया का प्रधानमंत्री बना। उसने इस बात का अनुभव किया कि कूटनीति, शक्ति एवं विदेशी सहायता के माध्यम से ही पीडमोंट-सार्डीनिया के नेतृत्व में इटली का एकीकरण संपन्न हो सकता है। पीडमोंट-सार्डीनिया के आर्थिक स्थिति को उन्नत करने के उद्देश्य से उसने कृषि, वाणिज्य-व्यापार एवं उद्योगों का विशेष तरजीह दी जिससे वहां की अर्थव्यवस्था अत्यंत ही सुदृढ़ हो गई। एक सुदृढ़ आंतरिक स्थिति के आधार पर उसने विदेश नीति को विकसित किया। क्रीमिया युद्ध (1853-56) में रूस के पक्ष में इंग्लैंड एवं फ्रांस को सैन्य सहायता जैसे कूटनीतिक सहयोग से उसने इन देशों की सहानुभूति प्राप्त की, जिसका उपयोग कर फ्रांस के साथ प्लाबियर्स की गुप्त संधि की और इस संधि के अनुरूप फ्रांस के सहयोग से इटली स्थित ऑस्ट्रियाई क्षेत्र लोम्बार्डी के हस्तगत कर लिया। यह कावूर की एक महान सफलता थी। कावूर की कूटनीतिक सफलता मध्य इतालवी राज्य-परमा, मोडेना, टस्कनी आदि के संबंध में हुए जनमत संग्रह में भी देखी जा सकती है, जहां राष्ट्रवादी विद्रोह के परिणामस्वरूप होने वाले जनमत संग्रह के आधार पर पीडमोंट-सार्डीनिया के नेतृत्व में इटली में विलय कर लिया गया। नेपल्स एवं सिसली के विलय के मुद्दों पर भी कावूर ने एक सफल कूटनीतिज्ञ का परिचय दिया। 1869 ई. में गैरीबाल्डी ने सिसली एवं नेपल्स जैसे दक्षिणी इतालवी राज्यों को वहां के निरंकुश राजाओं से मुक्त कराकर उस पर अधिकार पर लिया। तत्पश्चात् गैरीबाल्डी रोम एवं वेनेशिया पर भी अधिकार करने के लिए तत्पर था। यह स्थिति निश्चित रूप से पीडमोंट-सार्डीनिया को फ्रांस एवं ऑस्ट्रिया जैसे देशों के साथ युद्ध की स्थिति में डाल सकता था क्योंकि फ्रांसीसी सेना के अधीन रोम में पोप का राजतंत्र सुरक्षित था जबकि वेनेशिया ऑस्ट्रिया के अधिकार क्षेत्र में थे। अतः कावूर महान कूटनीति का सहारा लेकर गैरीबाल्डी के इस योजना को स्थगित करने में सफल रहा। साथ ही सिसली एवं नेपल्स में जनमत संग्रह कराकर उसे पीडमोंट-सार्डीनिया के नेतृत्व में इटली में विलय कर लिया गया। इस तरह हम कह सकते हैं कि कावूर की महान कूटनीतिक सफलता के परिणामस्वरूप वेनेशिया एवं रोम को छोड़कर संपूर्ण इटली का एकीकरण संभव हो सका।
3. **गैरीबाल्डी :** गैरीबाल्डी इटली का एक महान देशभक्त था। वह मुख्य रूप से मेजिनी के विचारों का दृढ़ समर्थक था तथा मेजिनी की संस्था 'यंग इटली' का सदस्य था। उसकी गुरिल्ला तथा छापामार युद्ध पद्धति इटली के एकीकरण के संबंध में विशेष महत्व रखती है। 1834 ई. में इटली के प्रमुख क्षेत्र 'सेवाय' में हुए मेजिनी के आंदोलन में उसने सक्रिय रूप से भाग लिया परन्तु यह विद्रोह असफल रहा। 1848 ई. में इटली में होने वाली विद्रोह में भी काफी सक्रिय रहा तथा ऑस्ट्रियाई सेना का डटकर सामना किया। पोप के राज्य में पोप की सत्ता को समाप्त कर मेजिनी की अध्यक्षता में स्थापित होने वाले गणतंत्र में भी उसने विशेष भूमिका निभाई। इस समय तक वह मेजिनी के गणतंत्रवादी विचारों से व्यापक रूप से प्रभावित था परन्तु 1856 ई. में कावूर से हुई भेंट के पश्चात् वह वैध राजसत्ता का पक्षधर हो गया। 1860 ई. में सिसली एवं नेपल्स में होने वाले विद्रोह, जो वहां के निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी शासक के विरुद्ध किया गया था, का लाभ उठाते हुए गैरीबाल्डी ने 1869 ई. में सिसली एवं नेपल्स पर अधिकार करने में सफलता प्राप्त की। उसके इन प्रयासों से मेजिनी एवं कावूर दोनों को अपने लक्ष्यों को और अधिक स्पष्ट करने में सफलता मिली।



6. जर्मनी का एकीकरण और बिस्मार्क (Unification of Germany and Bismarck)



19वीं शताब्दी के आरंभ में जर्मनी भी इटली की भांति एक 'भौगोलिक अभिव्यक्ति' मात्र था। भौगोलिक विस्तार की दृष्टि से जर्मनी के राज्यों को तीन भागों में बांटकर देखा जा सकता है—इसके उत्तरी भाग में प्रशा, सैक्सनी, हनोवर, फ्रैंकफर्ट आदि थे, मध्यवर्ती भाग में राइनलैंड का प्रसिद्ध क्षेत्र एवं दक्षिणी भाग में मुख्यतः बुटेम्बर्ग, बवेरिया, प्लेटिनेट आदि थे। इन सभी राज्यों में प्रशा की स्थिति विशिष्ट थी जो आकार एवं सैन्य दृष्टि से सर्वाधिक शक्तिशाली था।

जर्मनी के एकीकरण में प्रमुख बाधक तत्त्व

(Major Obstructive Factors in the Unification of Germany)

जर्मनी के एकीकरण में प्रमुख बाधक तत्त्व ऑस्ट्रिया द्वारा जर्मनी के आंतरिक मामलों में अत्यधिक व अनुचित हस्तक्षेप करना था। ऑस्ट्रिया जर्मनी के विविध भागों में उदित राष्ट्रवादी भावनाओं के विरुद्ध था। वह चाहता था कि जर्मनी में राष्ट्रीयता स्थापित न हो और उसका स्वार्थ भी जर्मनी के बिखराव में ही था। इसके अतिरिक्त जर्मनी के विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी शासन किसी भी परिस्थिति में अपनी वर्तमान स्थिति पर गंभीर संकट उत्पन्न होने की आशंका थी। इसी कारण वहां के तत्कालीन छोटे-छोटे शासक एकीकृत जर्मनी में किसी भी तरह को दिलचस्पी नहीं ले रहे थे। इस प्रसंग में यह कहना आवश्यक है कि प्रारंभ में तो ये सभी बाहरी राष्ट्र जर्मनी के एकीकरण के मुद्दों पर गंभीर नहीं थे परन्तु बिस्मार्क की सफल कूटनीति ने इस दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। बिस्मार्क ने जर्मनी की एकता को युद्ध का प्रश्न बना कर जर्मनी के एकीकरण का महान कार्य सफल किया।

जर्मनी के एकीकरण में सहायक तत्त्व

(Assisting Factors in the Unification of German)

फ्रांसीसी क्रांति एवं नेपोलियन के प्रभाव ने जर्मनी के एकीकरण के लिए एक मजबूत आधारशिला तैयार की। 1805 का *Austerlitz* (Battle of Austerlitz) में ऑस्ट्रिया को भीषण शिकस्त दी और पश्चात् हुए प्रेसबर्ग की संधि के अनुसार जर्मनी में पवित्र रोमन सम्राट का प्रभुत्व समाप्त हो गया। इस रूप में ऑस्ट्रियाई वर्चस्व में कमी आई और वहां नेपोलियन के हस्तक्षेप में व्यापक वृद्धि हुई। नेपोलियन द्वारा जर्मनी में किए गए प्रशासनिक सुधारों के तहत संपूर्ण जर्मनी के छोटे-छोटे राज्यों को मिलाकर कुल 39 राज्यों की स्थापना कर उसका एक संघ बनाया गया। यह संघ इतिहास में 'राइन संघ' के नाम से प्रसिद्ध है। इस बदली हुई स्थिति में संपूर्ण जर्मनी में फ्रांसीसी कानून लागू किया गया। यह पहला अवसर था। जब संपूर्ण जर्मनी में कानून के आधार पर एकता स्थापित की गई थी। यह कानून उदारवादी विचारों पर आधारित था, इसलिए इस कानून के प्रति विशेष विरोध नहीं हुआ। परन्तु नेपोलियन द्वारा जर्मनी पर हुए आक्रमण के फलस्वरूप राइनलैंड का पश्चिमी भाग फ्रांस के अधीन हो गया जिससे जर्मनी में फ्रांस के विरुद्ध प्रतिक्रिया खुलकर सामने आई और यही वह कारण है जिससे जर्मनवासियों में राष्ट्रीयता एवं राष्ट्रवादी विचार बलवती होने लगी। यद्यपि नेपोलियन महाद्विपीय व्यवस्था से जर्मन उद्योग-व्यवसाय को तीव्र आघात पहुंचा और जर्मनी की अर्थव्यवस्था गंभीर रूप से प्रभावित हुई लेकिन नेपोलियन के कुछ प्रयास जैसे आर्थिक दृष्टिकोण से जर्मनी में गिल्ड प्रणाली को समाप्त कर मुक्त वाणिज्य नीति का प्रचार एवं प्रसार, विभाजित जर्मनी के 39 राज्यों को एक संघ में स्थापित करने के फलस्वरूप जर्मनवासियों में एकता का अहसास करवाना और उनमें एकीकृत जर्मनी के स्वप्न पालना विशेष महत्वपूर्ण थे।

वियना कांग्रेस एवं जर्मन एकीकरण (Vienna Congress and German Unification)

1815 में आयोजित वियना कांग्रेस एवं उसके पश्चात् ऑस्ट्रियाई शासक मेटर्निख के प्रभावों से जर्मन देशभक्तों की सारी आशाएं धूमिल हो गई। गौरतलब है कि नेपोलियन के पतन के पश्चात् होने वाले वियना कांग्रेस में

जर्मनी में नेपोलियन द्वारा स्थापित 'राइन संघ' को समाप्त कर दिया गया और उसकी जगह जर्मनी को विभिन्न उपराज्यों में बांटकर उसका एक ढीला-ढाला संघ बनाया गया और ऑस्ट्रिया को उस संघ का अध्यक्ष बनाया गया। ऑस्ट्रियाई सम्राट मेटर्निख द्वारा वहां पर प्रतिक्रियावादी शासन के नए-नए तरीके अपनाए गए। दक्षिणी जर्मनी के क्षेत्रों में विकसित हो रही उदारवादी प्रकृति यथा विश्वविद्यालय एवं प्रेस की स्वतंत्रता के सार्थक प्रयास ने मेटर्निख की शंका में वृद्धि कर दी। अंततः इन पर कठोर नियंत्रण लगाया गया और ये उदारवादी प्रयास तत्काल निरर्थक साबित हुए। मेटर्निख के इस प्रतिक्रियावादी प्रयासों के फलस्वरूप जर्मन देशभक्तों में घोर निराशा का संचार हुआ और उन्होंने विभिन्न क्रांतिकारी गुप्त समितियों के माध्यम से राष्ट्रीयता तथा राजनैतिक एकता के प्रयास को जारी रखा।



1830 एवं 1848 ई. की फ्रांसीसी क्रांति के प्रभाव

(Impact of 1830 and 1848 French Revolution)

1830 एवं 1848 में फ्रांस में हुई क्रांति के फलस्वरूप जर्मनी के विभिन्न क्षेत्रों में भी विद्रोह की चिंगारी लग गई। 1830 की क्रांति के क्रम में ही जर्मन शासकों पर अपने यहां उदारवादी संविधान लागू करने के लिए प्रभावी दबाव पड़ा और अंततः इनमें से कुछ शासकों द्वारा संविधान लागू भी किया गया। परन्तु मेटर्निख के तीव्र दबाव में आकर इन शासकों को ये संविधान निरस्त करना पड़ा। 1848 की क्रांति ने पुनः एक बार जर्मन राष्ट्रवादियों में नई जागृति का संचार किया। वास्तव में इस क्रांति के फलस्वरूप ऑस्ट्रिया में हुए व्यापक विद्रोह ने मेटर्निख की सत्ता को समाप्त कर दिया और उसने भागकर इंग्लैंड में शरण लिया। ऑस्ट्रिया के क्रांतिकारियों की इस महान विजय से अभिप्रेरित होकर जर्मनी के और राज्यों में भी विद्रोह हुए। फलतः अनेक जर्मन शासकों को विवश होकर उदारवादी संविधान लागू करने पड़े। परन्तु थोड़े ही दिनों में ऑस्ट्रियाई के इस प्रयास को अंततोगत्वा कुचल दिया गया और एक बार पुनः चतुर्दिक प्रतिक्रिया का राज्य स्थापित हो गया।

औद्योगिक विकास एवं जोलवेरिन की स्थापना

(Industrial Development and Establishment of Zollverein)

प्रशा जैसे जर्मन राज्य के नेतृत्व में जोलवेरिन अर्थात् चुंगी संघ की स्थापना ने जर्मनी के आर्थिक एकीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई इस व्यवस्था के तहत सदस्य राज्यों के मध्य आपस में बिना चुंगी करों का भुगतान किए निर्बाध रूप से माल का आयात-निर्यात होने लगा। इस व्यवस्था से आंतरिक व्यापार को काफी बढ़ावा मिला और 1834 तक जर्मनी के लगभग प्रमुख राज्य जोलवेरिन की सदस्यता ग्रहण कर चुके थे। अतः आर्थिक आधार पर जर्मनी के एकीकरण ने इसके राजनीतिक एकीकरण को एक प्रगतिशील आयाम प्रदान किया। चूंकि जोलवेरिन का नेतृत्व प्रशा कर रहा था। अतः राजनीतिक एकीकरण की भूमिका प्रशा के नेतृत्व में ही तैयार होने लगी। इसी आर्थिक संघ के आधार पर प्रशा जर्मन के नेता के रूप में सामने आया।

एकीकरण में कोयला और लोहा की भूमिका अर्थात् औद्योगिक विकास

(Role of Coal and Iron in Unification - Industrial Development)

जर्मनी के एकीकरण के संबंध में एक तरीके से औद्योगिक विकास अर्थात् कोयला और लोहा की भूमिका ने भी राजनैतिक एकता की पृष्ठभूमि तैयार की। प्रशा के नेतृत्व में आर्थिक संघ जोलवेरिन अस्तित्व में आ चुका था जिसने की राजनीति को प्रोत्साहित किया था। औद्योगिक क्रांति से इस व्यवस्था को पर्याप्त बढ़ावा मिला। चूंकि प्रशा के क्षेत्रों में कोयले एवं लोहे के प्रचुर भंडार थे और वह जोलवेरिन का नेतृत्वकर्ता के रूप में भी उभरा था, अतः नए-नए उद्योग-धंधों एवं रेलमार्गों के निर्माण को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। सूती वस्त्रोद्योग का तो कायाकल्प ही हो गया। इस समय औद्योगिक विकास में रेलवे ने भी पर्याप्त निर्णायक भूमिका निभाई। बड़ी मात्रा में रेलवे लाइन का विस्तार हुआ। जर्मनी के प्रत्येक प्रमुख शहरों को रेलों के द्वारा जोड़ दिया गया। फलतः जर्मनी में भौगोलिक एकता की भावना को बल मिला और आवागमन में तीव्रता आई। व्यापार के विकास हेतु आदर्श स्थिति बनी, एक-क्षेत्र के लोगों का दूसरे क्षेत्र के लोगों के साथ वैचारिक आदान-प्रदान स्थापित हुआ। राइन क्षेत्र के कोयले एवं लोहे की खानों के अधिकाधिक उपयोग से जर्मनी के तत्कालीन व्यवस्था में नवीन



आयाम जुड़ गए। पर्याप्त औद्योगिक उन्नति के फलस्वरूप राजनीतिक क्षेत्र में भी एक नवीन युग का आगाज हुआ। औद्योगिकरण के फलस्वरूप पूंजीपतियों एवं उद्योगपतियों का प्रभाव बढ़ा और इस वर्ग ने जर्मन राजनीति में विशेष रूप से सक्रियता दर्ज कराई। यह वर्ग जर्मनी के एकीकरण एवं एक मजबूत केन्द्रीय सत्ता की स्थापना के पक्षधर थे ताकि उनके व्यावसायिक हितों को संरक्षण मिल सके। औद्योगिकरण प्रशा जैसे राज्यों के लिए विशेष रूप से लाभप्रद रहे और प्रशा को एक शक्तिशाली सेना के गठन में सफलता मिली। औद्योगिकरण में जो आवश्यक तत्त्व था। वह विशेष रूप से कच्चे माल की प्राप्ति एवं एक निश्चित बाजार की आवश्यकता थी। इस दृष्टि से संयुक्त जर्मनी एक महान शक्ति के रूप में उपनिवेशों की होड़ में यथासंभव स्थान बनाने में सफल हो सकता था। अतः सभी उद्योगपति अपने व्यावसायिक हितों को ध्यान में रखकर प्रशा को सहयोग देने हेतु बढ़-चढ़कर भाग ले रहे थे। यह प्रवृत्ति इतनी स्पष्ट थी कि जर्मनी के एकीकरण के एक महान पक्ष के रूप में कोयले एवं लोहे पर विकसित हुए औद्योगिकरण को रेखांकित किया जा सकता है।

स्याही और कागज अर्थात् दार्शनिकों की भूमिका

(Ink and Paper - Role of Philosophers)

जर्मनी में राष्ट्रवादी भावनाओं के विकास में प्रबुद्ध वर्गों की भी भूमिका रही। इस संबंध में हीगल, इमैनुएल कांट, हम्बोल्ट, नोवेलिस आदि का नाम अग्रण्य है। उन्होंने अपनी लेखनी के माध्यम से जनमानस में राष्ट्र प्रेम एवं राष्ट्र गौरव की भावनाओं का प्रसार किया। हीगल ने बताया कि राज्य ही सार्वलौकिक विचारधार का सर्वोत्तम रूप है। अतः राज्य की सत्ता एवं स्थान सर्वाधिक ऊपर है। प्रशा का चांसलर बिस्मार्क हीगल के राज्य के सार्वभौम सत्ता के विचारधारा से काफी प्रभावित था। इसी संबंध में इमैनुएल कांट की भूमिका भी प्रशसनय रही जिन्होंने जर्मन दर्शन को एक नई दिशा दी और जर्मन उदारवाद को स्वतंत्रता का आदर्श देकर उसमें निखार लाया। हम्बोल्ट, जो प्रशा का शिक्षामंत्री था ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता के मुद्दों की जोरदार वकालत की तथा उसी परिश्रम का प्रतिफल था कि जर्मन उदारवादियों को प्रेस की स्वतंत्रता प्राप्त हुई। नोवेलिस जो एक महान लेखक एवं कवि था, उसकी रचनाओं से जर्मनी का सांस्कृतिक जीवन स्पष्ट रूप से उजागर हुआ। इसके अलावा जर्मनी में राष्ट्रीय चेतना के विकास में जर्मन कवि आण्डर्ट का भी सराहनीय योगदान रहा, जिसने देश प्रेम से भरी कविताओं के माध्यम से जर्मन वासियों में राष्ट्रवादी विचारों को सच्चे रूप में नई दिशा प्रदान की। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जर्मनी में कवियों ने राष्ट्र की महानता के गीत गाए, दार्शनिकों ने जर्मनी को एक महान देश बताया। इतिहासकारों ने जर्मनी के प्राचीन गौरव पर प्रकाश डाला तो साहित्यकारों एवं लेखकों ने जर्मन वासियों में राष्ट्रीय भावनाओं को जगाया। इन्हीं सब तत्वों के अक्लोकन के आधार पर हम कह सकते हैं कि जर्मनी के एकीकरण के संदर्भ में स्याही एवं कागज की शक्ति ने राष्ट्रवाद के विकास में सराहनीय कार्य किए।

बिस्मार्क और जर्मनी का एकीकरण : रक्त और लौह की नीति

(Bismarck and German Unification: Policy of Blood and Iron)

जर्मनी का एकीकरण मूलतः कोयला और लोहा, स्याही एवं कलम तथा रक्त और लौह कुल तीन नीतियों का समन्वित प्रतिफल था। बिस्मार्क द्वारा रक्त एवं लौह अर्थात् युद्ध की नीति का अवलंबन कर जर्मनी के एकीकरण के पुनीत कर्तव्य का सफलतापूर्वक निर्वहन अपने आपमें विशिष्ट महत्त्व रखता है। 1862 में प्रशा का चांसलर बनने के पश्चात् बिस्मार्क ने अपने रक्त एवं लौह विषयक नीति को सफलतापूर्वक संचालित किया। उसे प्रशा की शक्ति एवं सेना में अटूट विश्वास था, यही कारण है कि वह प्रशा के नेतृत्व में ही जर्मनी के एकीकरण का स्वप्न देखता था। बिस्मार्क को यह दृढ़ विश्वास था कि जर्मनी उदारवादी आदर्शों के लिए नहीं वरन् शक्ति हेतु प्रशा की ओर देख रहा है। वह इस बात पर जोर देता था कि जर्मनी की समस्या का समाधान बौद्धिक भाषणों, आदर्शवादी बातों या बहुमत के निर्णयों से नहीं वरन् प्रशा की अगुवाई में रक्त एवं युद्ध अर्थात् बलिदान देकर ही संभव हो सकेगा। वस्तुतः बिस्मार्क द्वारा इस नीति पर विशेष जोर देने का एकमात्र कारण तत्कालीन यूरोपीय राजनीतिक व्यवस्था में अंतर्निहित तत्त्व थे जैसे यूरोप के तत्कालीन प्रभावशाली देश- इंग्लैंड, रूस, फ्रांस और ऑस्ट्रिया जर्मन एकीकरण के पक्ष में कदापि नहीं थे। बिस्मार्क जर्मनी में एकता के लिए विदेशी सहायता की अपेक्षा नहीं करता था, साथ ही वह यह भी आशा नहीं करता था कि जर्मनी के छोटे-छोटे शासक

जर्मनी के एकीकरण में सहायक सिद्ध होगी। बिस्मार्क को इस बात पर पक्का विश्वास था कि जर्मनी की एकता के लिए प्रशा से युद्ध करना ही सर्वोत्तम मार्ग होगा और इन युद्धों के द्वारा जर्मनी में राष्ट्रीयता की भावना जगाकर एवं जर्मनवासियों में अपने शासकों के विरुद्ध विद्रोह कराकर प्रशा में मिलने हेतु प्रेरित करना ही कारगर होगा। बिस्मार्क की लौह एवं युद्ध की नीति प्रशा की सामरिक नीतियों से भी मेल खाती थी। अतीत में प्रशा को फ्रेडरिक महान ने सामरिक दृष्टिकोण से एक महान राज्य बनाने की कोशिश की थी। इसके अतिरिक्त जर्मनी के उत्तरी राज्यों ने लगभग 1862 ई. तक यह भलीभाँति देख लिया था कि जर्मन संघ से ऑस्ट्रिया को तब तक निष्कासित नहीं किया जा सकता था जब तक प्रशा एवं ऑस्ट्रिया के बीच खुलेआम आमने-सामने भीड़ंत न हो जाय। यह वह नीति थी जो निश्चित रूप से बिस्मार्क की नीति से मेल खाती थी क्योंकि बिस्मार्क का जर्मनी के एकीकरण विषयक सिद्धान्त मूल रूप से प्रशा के राज्य का महज विभिन्न जर्मन राज्यों पर विस्तार मात्र था। यह महज संयोग मात्र ही था कि प्रशा का चांसलर बिस्मार्क एवं सम्राट विलियम प्रथम के राजनीतिक विचारों में अपेक्षित समानता थी, अतः एकीकरण के इस अभियान में अपने सम्राट का पूरा सहयोग एवं समर्थन प्राप्त हुआ। जर्मनी के एकीकरण हेतु बिस्मार्क ने सफल कूटनीति का संचालन किया, विदेशी शक्तियों से समझौते किए एवं युद्ध लड़े। कुल मिलाकर 1864-70 के मध्य की अवधि में उसने डेनमार्क, ऑस्ट्रिया तथा फ्रांस को पराजित कर जर्मनी के एकीकरण के कार्यों का सफलतापूर्वक समापन किया।



बिस्मार्क के नेतृत्व में जर्मनी का एकीकरण: विभिन्न चरण

(German Unification Under the Leadership of Bismarck: Different Phases)

एकीकरण का प्रथम चरण (डेनमार्क के साथ युद्ध-श्लेसविग और होलस्टीन की समस्या) बिस्मार्क इस बात को अच्छी तरह से समझता था कि ऑस्ट्रिया को जर्मनी से निकाले बिना एकीकृत जर्मनी की परिकल्पना साकार नहीं हो सकती है। अतः कुछ ऐसी परिस्थितियों की खोज में था ताकि वह इस विषय पर अपनी कार्य योजना का क्रियान्वयन कर सके। यह संयोग ही था कि इस श्लेसविग एवं होलस्टीन प्रदेशों की समस्या उत्पन्न हो गई और इस समस्या ने बिस्मार्क को अपनी योजनाओं व नीतियों को लागू करने का उपयुक्त अवसर दिया। स्वाभाविक रूप से बिस्मार्क प्रशा को सैन्य दृष्टि से शक्तिशाली बनाकर उसकी मारक शक्ति को जाँचना चाहता था ताकि प्रशा-ऑस्ट्रिया के संभावित युद्ध में ऑस्ट्रिया को किसी भी प्रकार का मौका नहीं दिया जा सके। इसी विचार से अभिप्रेरित होकर वह अपनी सेना को पहले ऑस्ट्रिया के साथ नहीं, बल्कि किसी दूसरे देश के साथ लड़ाना चाहता था। श्लेसविग एवं होलस्टीन जैसे डचियों की समस्या इसी जाँच के रूप में काम आयी।

वास्तव में, श्लेसविग एवं होलस्टीन नामक डच प्रदेश प्रशासन के अधीन था परन्तु उस पर डेनमार्क का अधिकार नहीं था। इन दो डच प्रदेशों के बारे में विशेष उल्लेखनीय बात ये थी कि श्लेसविग में जर्मन एवं डेन दोनों जातियों के लोग निवास करते थे जबकि होलस्टीन में मुख्यतः जर्मन जाति के लोग थे। कि श्लेसविग तब बदलने लगी जब 1863 में डेनमार्क के तत्कालीन राजा क्रिश्चियन नवम द्वारा एक नया संविधान बनाकर श्लेसविग को डेनमार्क में मिलाने एवं होलस्टीन को डेनमार्क से बांधने की चेष्टा की गई। डेनमार्क के राजा के इस अन्यायपूर्ण कदम के विरुद्ध उक्त दो डच प्रदेशों में तीव्र प्रतिक्रिया हुई। बिस्मार्क ने इस अवसर का लाभ जर्मनी एकीकरण हेतु उठाना चाहा। इस कड़ी का महत्वपूर्ण पक्ष था- बिस्मार्क और ऑस्ट्रिया के बीच होने वाली संधि जो डेनमार्क को 48 घंटे का अल्टीमेटम देकर उपर्युक्त घोषणा को निरस्त करने की चेतावनी थी, परन्तु डेनमार्क के असंतोषजनक रूख ने ऑस्ट्रिया एवं प्रशा को आक्रमण करने के लिए बाध्य कर दिया और अंततः डेनमार्क की पराजय हुई। पराजय के पश्चात् श्लेसविग एवं होलस्टीन डेनमार्क अधीनता से मुक्त होकर ऑस्ट्रिया एवं प्रशा के अंतर्गत आ गए। परन्तु यही वह मोड़ था जहाँ प्रशा एवं ऑस्ट्रिया के बीच विवाद की जड़ें उत्पन्न हुई थी। इन दोनों प्रदेशों की भावी व्यवस्था के प्रश्न एवं ऑस्ट्रिया के मध्य मतभेद उत्पन्न हो गए। बिस्मार्क की इच्छा ऑस्ट्रिया के विरुद्ध इन प्रदेशों में मिलना था, क्योंकि वास्तविकता यह थी कि बिस्मार्क ऑस्ट्रिया से भी युद्ध चाहता था और ऑस्ट्रिया की पराजय से ही जर्मनी के एकीकरण का मार्ग प्रशस्त हो सकता था अपनी योजना को सफल बनाने के उद्देश्य से बिस्मार्क ने ऑस्ट्रिया के साथ 1865 में गेस्टाइन की संधि की और तय किया कि जब तक कोई अंतिम निर्णय नहीं हो जाता तब तक होलस्टीन ऑस्ट्रिया के अधीन एवं श्लेसविग प्रशा के अधीन रहेगा। वास्तव में देखा जाय तो गेस्टाइन की यह संधि बिस्मार्क की एक



महान कूटनीतिक विजय थी होलस्टीन प्रदेश में शुद्ध रूप से जर्मन जाति के लोग बहुसंख्यक थे और वे न सिर्फ सांस्कृतिक दृष्टिकोण से वरन् भौगोलिक दृष्टिकोण से भी प्रशा के निकट थे। ऐसी परिस्थिति में वह किसी भी समय होलस्टीन पर अधिकार कर सकता था। कुल मिलाकर यह व्यवस्था ऑस्ट्रिया के लिए गले की हड्डी बन गयी। निश्चित रूप से इस परिस्थिति ने बिस्मार्क एवं ऑस्ट्रिया के मध्य युद्ध को अवश्यम्भावी बना दिया।

एकीकरण का द्वितीय चरण (प्रशा-ऑस्ट्रिया युद्ध, 1866)

बिस्मार्क ने ऑस्ट्रिया से युद्ध के लिए श्लेसविग-होलस्टीन समस्या का भरपूर उपयोग किया। ऑस्ट्रिया से युद्ध करने से पूर्व उसने ऑस्ट्रिया को कूटनीतिक दृष्टि से एकाकी करने अर्थात् यूरोप में उसे मित्रहीन बनाने का निश्चय किया। इसके लिए उसने रूस, फ्रांस और पीडमोंट-सार्डीनिया से पृथक् संधियां कर प्रशा-ऑस्ट्रिया युद्ध की भावी स्थिति में तटस्थ रहने का वचन प्राप्त कर लिया। 1854-56 में क्रीमिया युद्ध में प्रशा की तटस्थता तथा 1863 में पोलैण्ड में हुए विद्रोह के समय प्रशा द्वारा रूसी सरकार को सहायता के कारण प्रशा के प्रति रूसी सहानुभूति थी। वास्तव में बिस्मार्क यह कभी नहीं चाहता था कि प्रशा की सीमा पर एक स्वतंत्र शक्ति के रूप में पोलैण्ड का अस्तित्व हो क्योंकि एक संगठित पोलैण्ड भविष्य में प्रशा के लिए बड़ी खतरा उत्पन्न कर सकता था। ऐसी स्थिति में उसने पोलैण्ड के विरुद्ध रूस को सहायता प्रदान की और जर्मनी के एकीकरण हेतु रूस की मित्रता हासिल की। बिस्मार्क ने फ्रांस के सम्राट नेपोलियन तृतीय से 1865 में एक संधि कर उसे तटस्थ रहने पर सहमत कर लिया। बिस्मार्क ने अस्पष्ट ढंग से कुछ ऐसे क्षेत्र को देकर नेपोलियन तृतीय को फ्रांसीसी तटस्थता का मूल्य चुकाने का वादा किया जो वास्तव में प्रशा के नहीं थे। इसके अलावा नेपोलियन तृतीय यह आशा कर रहा था कि प्रशा-ऑस्ट्रिया युद्ध के फलस्वरूप दोनों की शक्ति में होने वाली कमी फ्रांस को अपना प्रभाव बढ़ाने का उपयुक्त अवसर प्रदान करेगा।

बिस्मार्क ने प्रशा की सहायता हेतु इटली के ऑस्ट्रिया के प्रति तीव्र रोष का उपयोग किया। वास्तव में इटली का एक भाग वेनेशिया अभी तक ऑस्ट्रिया के अधीन ही बना हुआ था और बिना विदेशी सहायता के उसे स्वतंत्र नहीं किया जा सकता था। अतः बिस्मार्क ने इटली से एक संधि की जिसके तहत प्रशा द्वारा ऑस्ट्रिया पर आक्रमण करने की स्थिति में इटली द्वारा ऑस्ट्रियाई प्रभुत्व वाले वेनेशियाई क्षेत्र को जीत लेने की बात तय हुई। इस तरह से बिस्मार्क ने इटली को भी अपने पक्ष में कर लिया।

इसी बची श्लेसविग-होलस्टीन के युद्धों को लेकर ऑस्ट्रिया-प्रशा के बीच तनाव बढ़ गया, जो 1866 में युद्ध को 'सात सप्ताह का युद्ध' भी कहा जाता है, क्योंकि यह युद्ध केवल सात सप्ताह तक ही चला था। इस समय ऑस्ट्रिया की सैन्य शक्ति काफी कमजोर थी साथ ही उसे प्रशा एवं पीडमोंट-सार्डीनिया के साथ दो विभिन्न मोर्चाओं पर लड़ना पड़ा। दोनों के मध्य 1866 में हुए सेडोवा के युद्ध में ऑस्ट्रिया की घोर पराजय हुई। अंततः दोनों के मध्य हुए प्राग की संधि के फलस्वरूप जर्मनी के पुराने संघ जो 1815 में वियना व्यवस्था में स्थापित किए गए थे और जिसमें ऑस्ट्रिया प्रभाव था, के स्थान पर प्रशा के नेतृत्व में जर्मन राज्यों का एक नवीन संघ गठित किया गया। जर्मनी के सभी उत्तरी राज्य जिसकी संख्या 21 थी, ऑस्ट्रिया से स्वतंत्र हो गए और वेनेशियाई प्रदेश इटली को प्राप्त हुआ। इस प्रकार उत्तरी जर्मनी राज्य संघ का निर्माण हुआ और प्रशा का सम्राट इस संघ का अध्यक्ष बना। इस संघ में दक्षिणी जर्मनी के क्षेत्रों को शामिल नहीं किया गया था। ऑस्ट्रिया-प्रशा युद्ध के संबंध में एक और भी उल्लेखनीय बात यह थी कि बिस्मार्क द्वारा पराजित राष्ट्र के रूप में ऑस्ट्रिया के साथ उदारवादी व्यवहार किया गया क्योंकि बिस्मार्क जानता था कि ऑस्ट्रिया के साथ अधिक कठोर व्यवहार के कारण हो सकता है कि इस विषय पर अन्य यूरोपीय देशों के हस्तक्षेप की संभावना बढ़ जाय। इसके अलावा ये अटकलें भी लगायी जा रही थी कि दक्षिणी जर्मनी क्षेत्र में फ्रांस का व्यापक प्रभाव था, अतः फ्रांस के साथ भी युद्ध अवश्यम्भावी था। इस युद्ध में सफलता के लिए बिस्मार्क को ऑस्ट्रिया की तटस्थता की जरूरत थी, इसलिए बिस्मार्क ने ऑस्ट्रिया के साथ नरमी का बर्ताव किया।

एकीकरण का तृतीय चरण (फ्रांस-प्रशा युद्ध, 1870)

ऑस्ट्रिया-प्रशा युद्ध में ऑस्ट्रिया की पराजय संपूर्ण यूरोप के इतिहास की एक आश्चर्यजनक एवं निर्णायक घटना थी। इस युद्ध में नेपोलियन तृतीय की तटस्थ नीति से अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर फ्रांस की अंतर्राष्ट्रीय व आंतरिक राजनीति के मामलों में धाक में कमी आ गयी, क्योंकि किसी भी तरीके से फ्रांस को इस तटस्थता का लाभ

नहीं मिला था। नेपोलियन तृतीय की सर्वत्र आलोचना होने लगी जिसके कारण वह अपनी गिरती हुई प्रतिष्ठा को पुनः पाने के लिए हरसंभव तैयार था। एक बार बिस्मार्क ने कहा भी था कि फ्रांस के साथ प्रशा का युद्ध इतिहास की तर्कसंगत परिणति है। राष्ट्रीयता की भावना के उफान में बिस्मार्क जर्मनी में दक्षिणी राज्यों के विलय के अवसर के इंतजार में था। इसके लिए फ्रांस से युद्ध करना हो एक मात्र विकल्प था। और इसके लिए बिस्मार्क की नीति की पहले फ्रांस को कूटनीतिक दृष्टि से अलग-थलग कर दिया जाय, काफी प्रभावशाली सिद्ध हुई। इस दृष्टिकोण से बिस्मार्क ने रूस, इटली एवं ऑस्ट्रिया के साथ सौहाद्रपूर्ण संबंध बनाए। इसी बीच 'स्पेन के राजसिंहासन के प्रश्न' के दोनों शक्तियों के बीच युद्ध प्रारंभ करने के लिए उपयुक्त अवसर प्रदान किया। 1868 में स्पेन की जनता द्वारा महारानी इसाबेला के निरंकुश शासन के विरुद्ध विद्रोह कर उसे हटा दिया गया और उसके स्थान पर होहेन जोलर्न वंश के राजकुमार लियोपोल्ड को नियुक्ति करने की बात तय की गई। लियोपोल्ड संबंधी था, अतः इस सूचना के मिलते ही नेपोलियन तृतीय ने इस पर कड़ी आपत्ति दर्ज की और स्पष्टतः यह घोषणा की कि फ्रांस भविष्य में भी स्पेन की गद्दी पर होहेन जोलर्न वंश के अधिकार को कभी सहन नहीं करेगा।

नेपोलियन तृतीय ने यह मांग भी रखी कि प्रशा का सम्राट यह वचन दे कि भविष्य में स्पेन की गद्दी पर होहेन जोलर्न वंश द्वारा गद्दी का दावा नहीं किया जाएगा। इस संबंध में प्रशा का सम्राट तथा फ्रांस के राजदूत के बीच महत्वपूर्ण वार्ता 'एम्स' नामक स्थान पर संपन्न हुई। प्रशा के सम्राट विलियम प्रथम ने इस वार्ता का संक्षिप्त विवरण एक तार के माध्यम से चांसलर बिस्मार्क को भेज दिया। अवसर का लाभ उठाकर बिस्मार्क द्वारा तार की भाषा को समाचार पत्रों में इस तरीके से प्रस्तुत किया गया कि दोनों देशों की जनता में एक दूसरे के प्रति तीव्र आक्रोश एवं उत्तेजना उत्पन्न हो गई। फ्रांस में यह अफवाह फैली कि वार्ता में प्रशा के सम्राट द्वारा फ्रांस के राजदूत का अपमान किया गया है तथा प्रशा में यह अफवाह फैली कि प्रशा के सम्राट का अपमान किया गया है। यही वह तथ्य है जिस पर दोनों की जनता में उग्र राष्ट्रीयता परवान चढ़ गई और अंततः दोनों देशों के मध्य युद्ध प्रारंभ हो गया। 1870 में सेडान के युद्ध में नेपोलियन तृतीय के नेतृत्व में फ्रांसीसी सेना की घोर पराजय हुई और अततः फ्रांस को समर्पण करना पड़ा। तत्पश्चात् 1871 की फ्रैंकफर्ट की संधि के फलस्वरूप युद्ध की समाप्ति हो गई। प्रशा की यह एक बहुत बड़ी उपलब्धि थी क्योंकि इस संधि के तहत फ्रांस को प्रसिद्ध प्राकृतिक संसाधन वाले अल्सास-लॉरेन क्षेत्र प्रशा को देने पड़े तथा हर्जाने के रूप में बड़ी धनराशि एक निश्चित समय सीमा में देने की बात भी तय की गई। इस प्रकार जर्मनी के एकीकरण की प्रक्रिया पूर्ण हुई। जर्मनी में एक संगठित जर्मन साम्राज्य की स्थापना हुई जो 'राष्ट्रवाद एवं सैन्यवाद का प्रबल समर्थक था। इस क्रम में फ्रांस व जर्मनी के मध्य तनाव के बीज बोए गए, जैसे फ्रांस यह कभी नहीं भूल पाया कि उसका समृद्ध अल्सास-लॉरेन क्षेत्र प्रशा के पास चला गया और वर्साय के राजमहल में प्रशा के सम्राट विलियम प्रथम को जर्मनी का सम्राट घोषित किया गया था। जर्मनी के एकीकरण के अंतिम क्षण में इटली के एकीकरण की प्रक्रिया भी संपन्न हुई। फ्रांस-प्रशा युद्ध के क्रम में इटली स्थित पोप के राज्य की सुरक्षा हेतु नियुक्त फ्रांसीसी सेना की वापसी से रोम के विलय का मौका मिल गया और इस रूप में इटली के एकीकरण का कार्य भी पूर्ण हो गया।

बिस्मार्क एवं उसकी नीतियां (Bismarck and His Policies)

बिस्मार्क का जन्म 1 अप्रैल, 1815 को बेडनबर्ग में हुआ था। 1859 में रूस में राजदूत एवं 1862 में फ्रांसीसी राजदूत के रूप में उन्होंने प्रशा के अंतर्राष्ट्रीय साख में वृद्धि की। सितंबर, 1862 में उसे प्रशा चांसलर नियुक्त किया गया। इस रूप में उसने जर्मनी के एकीकरण के कार्यों का सफलतपूर्वक निर्वहन किया जिसमें उसकी रक्त और लौह की नीति ने निर्णायक भूमिका निभाई।

बिस्मार्क की गृह नीति (Domestic Policy of Bismarck)

बिस्मार्क ने जर्मनी की भावनात्मक एकता के लिए विभिन्न राज्यों में प्रचलित कानूनों को निरस्त कर उसके स्थान पर संपूर्ण जर्मन साम्राज्य के लिए एक सर्वमान्य कानून की व्यवस्था की। आर्थिक एकता तथा विकास के मद्देनजर बिस्मार्क ने संपूर्ण में एक ही प्रकार की मुद्रा व्यवस्था को प्रचलित किया। यातायात की महत्ता को





महसूस कर रेलवे बोर्ड का गठन किया गया एवं टेलीग्राफ विभाग को उसी से संबद्ध कर दिया गया। संपूर्ण जर्मन में बैंकिंग प्रणाली को विकसित करने के लिए वृहत् मात्रा में बैंक खोले गए। इस समय जर्मनी में तीव्र औद्योगीकरण की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप समाजवादी विचारधारा का प्रसार होने लगा था। इस संबंध में लासले तथा मार्क्स ने जर्मन की तत्कालीन आर्थिक नीति की निंदा की और यह घोषणा की कि जर्मनी के उत्पादन के साधनों पर पूंजीपतियों का अधिकार अनुचित है। समाजवादियों द्वारा यह मांग की गयी कि सरकार श्रमिकों को ही संपूर्ण आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकार दे।

जर्मनी की पार्लियामेंट में समाजवादी दल के सदस्यों की संख्या में वृद्धि के साथ-साथ बढ़ते हुए अन्य प्रभावों के फलस्वरूप सरकार द्वारा औद्योगिक विकास एवं देश हित को ध्यान में रखकर समाजवादियों के प्रति कठोर नीति अपनायी गयी। इस संबंध के कठोर कानून बनाए गए। समाजवादियों को सभा करने पर प्रतिबंध लगा दिया गया, समाजवादी नेताओं को जेल में डाल दिया गया, समाचार पत्रों एवं साहित्य पर रोक लगा दी गई आदि। इन दमनकारी नीति से यद्यपि बिस्मार्क संतुष्ट नहीं था फिर भी मजदूरों को समाजवादियों से अलग करने के लिए उसने राज्य-समाजवाद की अवधारणा प्रस्तुत की, जिसमें उसने यह प्रस्तुत किया कि राज्य स्वयं मजदूरों की भलाई हेतु तत्पर है। उसने मजदूरों के हित में विभिन्न प्रकार के बीमा योजनाओं की शुरुआत की। स्त्रियों एवं बालकों के काम के घंटों का निर्धारण व रविवार अवकाश से संबंधित कानून बनाए गए। हालाँकि यह अलग बात है कि जर्मनी का राज्य समाजवाद जर्मनी में खास प्रतिष्ठा अर्जित न कर सका परन्तु उसका यह समाजवाद इंग्लैंड एवं फ्रांस के सामाजिक कानूनों के निर्माण हेतु प्रमुख आदर्श बना। अपने औद्योगिक वस्तुओं के हितों को ध्यान में रखकर बिस्मार्क ने जर्मनी के औद्योगिक उत्पादों के संबंधों में संरक्षणवादी नीतियों का सहारा लिया ताकि घरेलू बाजार में जर्मनी के औद्योगिक उत्पादों की बिक्री हो सके। इस समय इस बात की भी आवश्यकता महसूस की गई कि औद्योगिक कच्चा माल एवं एक सुनिश्चित बाजार प्रगति के लिए नितांत आवश्यक है। उस समय जर्मनी तथा फ्रांस की तुलना में उपनिवेश के मामलों में निम्न स्तर का देश था, अर्थात् उसका कोई उपनिवेश नहीं था। फिर भी 1884 ई. में बिस्मार्क ने अफ्रीका के पूर्वी और दक्षिणी-पश्चिमी भागों में अनेक व्यापारिक चौकियों पर कब्जा कर लिया और इस रूप में बिस्मार्क ने जर्मनी के औपनिवेशिक साम्राज्य की नींव रखी जो कालांतर में यूरोपीय राजनीति में तीव्र संघर्ष का कारण बना।

बिस्मार्क की विदेश नीति (Foreign Policy of Bismarck)

जर्मनी के एकीकरण के पश्चात् यूरोप की राजनीति में महान शक्ति के रूप में जर्मनी का उदय हुआ। एकीकरण के पश्चात् जर्मनी के नीति-निर्धारण के संबंध में बिस्मार्क ने यह घोषणा की कि जर्मनी एक संतुष्ट राष्ट्र है और क्षेत्रीय प्रसार में इसका कोई रुचि नहीं है। फिर भी, अल्सास-लोरैन का क्षेत्र जो उसने फ्रांस से छीनकर एक भूल की, उसके लिए फ्रांस से उसे सदैव सावधान रहने की अनिवार्यता थी। चूंकि फ्रांस कभी इस देश की नहीं भूल सकता था, अतः बिस्मार्क की विदेश नीति मूल रूप से फ्रांस को यूरोप में मित्रहीन रखना था जिससे वह अल्सास लोरैन को प्राप्त करने के लिए जर्मनी से युद्ध करने की स्थिति में आ सके। इसी बात की केन्द्र में रखकर 1872 में बर्लिन में रूस, ऑस्ट्रिया एवं जर्मनी के सम्राट के मध्य अनौपचारिक वार्ता हुई जिसमें यह बात समाने आई कि यूरोप में शांति बनाए रखने तथा समाजवादी आंदोलन से निपटने के उद्देश्य में वे एक-दूसरे के साथ सहयोग एवं विचार-विनिमय करेंगे। इसी आधार पर तीन सम्राटों के संघ का निर्माण हुआ, लेकिन यह संघ अस्थायी ही साबित हुआ। यह बात जगजाहिर थी कि जर्मनी या तो रूस के साथ या ऑस्ट्रिया के साथ अर्थात् दोनों में से किसी एक के साथ ही संबंध मजबूत रख सकता था। इसका कारण यह था कि बाल्कन क्षेत्र में रूस एवं ऑस्ट्रिया के हित एक-दूसरे से टकरा रहे थे। स्वाभाविक रूप से ऑस्ट्रिया-रूस की यह टकराहट जर्मनी, रूस और ऑस्ट्रिया के संघ में व्यावधान डालती। अंततः रूस 'तीन सम्राटों के संघ' से अलग हो गया। रूस के अलग हो जाने से बिस्मार्क ने इस बात को महसूस किया कि यूरोप में जर्मनी का एक अच्छा मित्र होना आवश्यक है, इसी आवश्यकता के तहत 1879 में ऑस्ट्रिया-जर्मनी के मध्य द्विगुट संधि (Dual Alliance) हुई जो वस्तुतः एक रक्षात्मक संधि थी। इस संधि के तहत यह बात तय की गई कि यदि ऑस्ट्रिया एवं रूस के मध्य युद्ध हो और उस युद्ध में रूस की सहायता फ्रांस करे तो उस स्थिति में जर्मनी ऑस्ट्रिया का साथ देगा और यदि फ्रांस जर्मनी पर आक्रमण करे और रूस उसकी सहायता करे तो ऑस्ट्रिया जर्मनी का साथ देगा। दूसरे शब्दों में यदि रूस ऑस्ट्रिया पर अकेले आक्रमण करता तो उस

स्थिति में जर्मनी तटस्थ रहता और इसी तरह यदि फ्रांस जर्मनी पर आक्रमण करता तो ऑस्ट्रिया तटस्थ रहता। इसके अलावा बिस्मार्क इटली से मित्रता कर फ्रांस को यूरोपीय राजनीति में एकदम अकेला कर देना चाहता था। फ्रांस एवं इटली के मध्य ट्यूनिस् के मुद्दे पर काफी तनाव हो गया था, ऐसी स्थिति में 1882 में इटली-जर्मनी-ऑस्ट्रिया के बीच 'त्रिगुट संधि' (Tripple Alliance) नामक प्रसिद्ध संधि हुई। तत्कालीन यूरोपीय राजनीति में इस संधि का विशेष महत्त्व है क्योंकि इस संधि के अनुसार यह तय किया गया था कि यदि फ्रांस इटली पर आक्रमण करता है तो उसी स्थिति में जर्मनी एवं ऑस्ट्रिया इटली की सहायता करेंगे। यदि फ्रांस जर्मनी पर आक्रमण करे तो इटली द्वारा जर्मनी को सहायता दी जाती और यदि अन्य दो देश जैसे फ्रांस एवं रूस त्रिगुट के किसी भी देश पर आक्रमण करें तो उस स्थिति में त्रिगुट के तीनों देश मिलकर उसका सामना करेंगे। यह संधि वैसे तो सिर्फ 5 वर्षों के लिए की गयी परन्तु समय-समय पर हुए नवीनीकरण के पश्चात् यह त्रिगुट संघ 1915 तक कायम रही। यह एक गुप्त संधि थी, जिसने यूरोपीय राजनीति में विभिन्न देशों के मध्य आपसी हितों के रक्षा हेतु गुटबन्धी करने को बाध्य किया तथा विभिन्न यूरोपीय देशों में अविश्वास, घृणा, नफरत आदि को पर्याप्त बढ़ावा दिया जिससे विभिन्न देशों में व्यापक तनाव बढ़ा और यही तनाव प्रथम विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि के रूप में सामने आया।

बिस्मार्क की एक और कूटनीतिक चाल थी - रूस के साथ मित्रता की संधि। बिस्मार्क किसी भी हालत में रूस की दोस्ती नहीं खोना चाहता था। इसी का परिणाम था कि रूस के जार को विश्वास में लेकर बिस्मार्क ने 1887 में रूस के साथ पुनराश्वासन संधि (Reassurance Treaty) नामक पूर्णतः गुप्त संधि की जिसके अनुसार रूस एवं जर्मनी के बीच यह तय हुआ कि दोनों देशों में से कोई भी देश किसी तीसरे देश के साथ उलझता है तो दूसरा देश तटस्थ रहेगा। जर्मनी की ओर से भी यह वादा किया गया कि वह बाल्कन क्षेत्र में रूस के हितों का विरोध नहीं करेगा। इस प्रकार बिस्मार्क ने रूस और ऑस्ट्रिया दोनों यूरोपीय शक्ति के साथ मित्रतापूर्ण संबंध कायम करने की कोशिश की।



7. प्रथम विश्वयुद्ध (First World War)



प्रथम विश्वयुद्ध विश्व इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। यह एक ऐसी घटना थी जब एक यूरोपीय युद्ध विश्वयुद्ध में परिवर्तित हो गई। इस युद्ध की पृष्ठभूमि में अंतर्राष्ट्रीय कूटनीति, साम्राज्यवादी प्रतिद्वंद्विता, शस्त्रों की होड़, उग्र राष्ट्रवाद, ऑस्ट्रिया के राजकुमार फर्डिनेंड की सेराजेवों में हत्या आदि तत्त्व थे। इस युद्ध में जितनी अधिक धन-जन की बर्बादी हुई उतनी मानव इतिहास में इससे पूर्व नहीं हुई थी। इससे पूर्व की लड़ाईयों में गैर-सैनिक जनता साधारणतया शामिल नहीं होती थी तथा जान की हानि आमतौर पर युद्धरत सेनाओं को उठानी पड़ती थी। 1914 के इस विश्वयुद्ध का क्षेत्र सर्वव्यापी था एवं इस युद्ध में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष तौर पर विश्व के लगभग सभी देश सम्मिलित हुए। इस युद्ध में यूरोप, एशिया, अफ्रीका तथा प्रशांत क्षेत्र में लड़ाईयां लड़ी गई थी। इसके अभूतपूर्ण विस्तार एवं सर्वांगीण प्रकृति के कारण ही इसे प्रथम विश्वयुद्ध कहा गया। यह विश्वयुद्ध 28 जुलाई, 1914 से 11 नवंबर, 1918 तक चला था।

प्रथम विश्वयुद्ध के कारण (Causes of First War)

- (i) **यूरोपीय कूटनीतिक व्यवस्था :** 1871 ई. में जर्मनी के एकीकरण के पश्चात् बिस्मार्क द्वारा यह घोषणा की गई थी कि जर्मनी एक संतुष्ट राष्ट्र है एवं वह क्षेत्रीय विस्तार के संबंध में कोई इच्छा नहीं रखता है। इसके बावजूद उसने फ्रांस से अल्सास लॉरेन का क्षेत्र लेकर उसे आहत कर दिया और यह वही बिन्दु है जिस पर जर्मनी को हमेशा यह भय बना रहता था कि फ्रांस यूरोप में दूसरे देशों के साथ मित्रता स्थापित कर जर्मनी के खिलाफ बदले की कार्रवाई न कर दे। इसी कारण, बिस्मार्क अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर फ्रांस को अलग-थलग अथवा एकाकी रखने के लिए कूटनीतिक जाल बुनने लगा। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर उसने 1879 ई. में ऑस्ट्रिया के साथ द्वैध संधि की जो एक गुप्त संधि थी। 1882 में इटली ने द्वैध संधि में शामिल होकर इसे त्रिवर्गीय संधि का रूप प्रदान किया। बिस्मार्क की यह कोशिश भी रही कि रूस के साथ सम्यक संबंध कायम हो इसलिए 1871, 1881 तथा 1887 में उसने रूस के साथ संधि कर उसे अपने पक्ष में मिलाए रखा। इस प्रकार बिस्मार्क की यह हरसंभव कोशिश रही कि फ्रांस को मित्रहीन बनाए रखा जाय और वह इसमें सफल भी रहा। परन्तु, 1890 में बिस्मार्क के चांसलर पद से हटने के बाद जर्मन सम्राट उसके इस विरासत को संभाल पाने में सफल नहीं रहे। 1894 में फ्रांस ने अततः रूस से मित्रता कर ली। 1907 में इंग्लैंड, फ्रांस तथा रूस ने आपस में समझौता कर इसे त्रिवर्गीय मैत्री संघ का रूप दिया। इस प्रकार यूरोपीय देशों में जबर्दस्त गुटबाजी का दौर चल पड़ा। सभी साम्राज्यवादी देशों ने अपने-अपने हितों को साधने के लिए गुटबाजी का प्रयास किया एवं आपस में गुप्त संधियां की। इन विभिन्न यूरोपीय देशों के इन कृत्यों से यूरोप में शंका का वातावरण व्याप्त हो गया। इस प्रकार इन दोनों गुटों में प्रतिद्वंद्विता एवं तनाव बढ़ता गया तथा प्रथम विश्वयुद्ध में दोनों गुट एक-दूसरे के विरुद्ध लड़ने में संलग्न हो गए।
- (ii) **साम्राज्यवादी प्रतिद्वंद्विता :** यूरोपीय राष्ट्रों के मध्य साम्राज्यवादी प्रतिद्वंद्विता प्रथम विश्वयुद्ध का एक-दूसरा मौलिक कारण स्वीकार किया जाता है। 19वीं शताब्दी के अंत में यूरोप के लिए यह एक बड़ी समस्या सामने आयी। 1870 के दशक में नवीन साम्राज्यवाद का युग प्रारंभ हुआ। जर्मनी एवं इटली के एकीकरण के पूर्व ही विभिन्न यूरोपीय देशों द्वारा विभिन्न एशियाई तथा अफ्रीकी क्षेत्रों में उभरे एवं इन्हें उपनिवेशों की आवश्यकता पड़ी। वस्तुतः जब तक बिस्मार्क जर्मनी का चांसलर रहा तब तक तो वह साम्राज्यवादी युद्धों पर अंकुश लगाए रखा। परन्तु, उसके पश्चात् जर्मन सम्राट द्वारा यह प्रसिद्ध घोषणा की गई कि “जर्मनी को भी सूर्य के नीचे जगह चाहिए।” अर्थात् इसका अभिप्राय था-उपनिवेशों की प्राप्ति तथा इसकी प्राप्ति हेतु साम्राज्यवादी नीति को अपनाना। पहले से स्थापित साम्राज्यवादी देशों के गुट में तीन नए देशों जर्मनी, इटली एवं जापान के शामिल हो जाने से स्वाभाविक रूप से साम्राज्यवादी प्रतिद्वंद्विता में तीव्रता आई। इससे साम्राज्यवादी शक्तियों के मध्य अफ्रीका का बंटवारा, चीन को प्रभाव क्षेत्रों में बांटना एवं प्रशांत महासागरीय क्षेत्र के अनेकानेक द्वीपों पर अधिकार स्थापित करने की लालसा से घोर प्रतिस्पर्धा का दौर शुरू हो गया। प्रारंभ में यूरोपीय साम्राज्यवादी देशों द्वारा अफ्रीका को शांतिपूर्ण ढंग से आपस में बांट लेने की योजना बनाई गई एवं इसके लिए 1884 में बर्लिन सम्मेलन में कुछ निदेशक सिद्धान्त भी प्रस्तुत किए गए, परन्तु यह मापदंड लंबे समय तक नहीं

चला। अफ्रीका के बंटवारे के सिलसिले में यूरोपीय साम्राज्यवादी देशों के मध्य घोर संघर्ष व आपसी टकराहट की स्थिति बनी। चीन तथा प्रशांत महासागरीय द्वीप नव साम्राज्यवाद का दूसरा क्षेत्र था। यूरोपीय साम्राज्यवादी देशों ने चीन की कमजोरी का लाभ उठाकर उसको विभिन्न प्रभाव क्षेत्रों में बांट लिया एवं अनेक सुविधाएं प्राप्त कर ली। इस स्थिति में चीन की स्वतंत्र स्थिति लगभग समाप्त हो गई।

1894-95 में चीन एवं जापान के युद्ध के परिणामस्वरूप जापान द्वारा चीन के कुछ भू-भाग जीत लिये गए। जापानी प्रसार की इस नीति से रूस के साथ टकराव अवश्यभावी हो गया। 1904-05 का रूस-जापान युद्ध इस टकराहट का ही प्रतिफल था जिसमें जापान ने रूस को पराजित कर अपनी साम्राज्यवादी उद्देश्य की नींव मजबूत कर ली। रूस-जापान के इस युद्ध ने यूरोपीय राजनीति को भी प्रभावित किया एवं यूरोप का वातावरण तनावपूर्ण हो गया।

बाल्कन प्रायद्वीप साम्राज्यवाद का तीसरा एवं सबसे भयंकर क्षेत्र था। इस क्षेत्र में तुर्की, रूस एवं ऑस्ट्रिया के हित टकराते थे। चूंकि संपूर्ण बाल्कन क्षेत्र विशाल तुर्की साम्राज्य का ही विस्तार था एवं रूस तथा ऑस्ट्रिया दोनों ही इस क्षेत्र से तुर्की आधिपत्य को समाप्त कर अपना-अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहते थे। अतः इस क्षेत्र में ऑस्ट्रिया एवं रूस एक-दूसरे के प्रबल विरोधी के रूप में सामने आए। वस्तुतः रूस एवं ऑस्ट्रिया के मध्य हितों की यही टकराहट प्रथम विश्व युद्ध का प्रमुख कारण बना।

- (iii) **उग्र राष्ट्रवाद :** जब विभिन्न यूरोपीय साम्राज्यवादी देशों के मध्य विभिन्न मुद्दों पर टकराहट की स्थिति व्याप्त थी, उसी समय विभिन्न देशों में उग्र राष्ट्रवाद की विचारधारा चरमोत्कर्ष पर पहुंची। फ्रांसीसी क्रांति के फलस्वरूप राष्ट्रवाद की जो भावना जागृत हुई थी, उसने प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व के संध्या पर विभिन्न राष्ट्रों के बीच आपसी टकराहट के लिए उत्प्रेरक का काम किया। वस्तुतः हम कह सकते हैं कि राष्ट्रवाद अथवा राष्ट्रीय चेतना जर्मनी एवं इटली के एकीकरण के संबंध में सकारात्मक पक्ष को दर्शाता है परन्तु 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में यह राष्ट्रवाद अपने घिनौने रूप में उभरकर आया। प्रत्येक राष्ट्र एक-दूसरे से स्वयं को सर्वोच्च रूप में दिखाने का प्रयास करता था। जर्मन राष्ट्रवादी फ्रांस के विरुद्ध थे तथा फ्रांस के राष्ट्रवादी भी जर्मनी का नामोनिशान मिटाने हेतु कृतसंकल्प थे। ध्यातव्य है कि जर्मनी के एकीकरण के क्रम में बिस्मार्क ने फ्रांस की पराजय से उत्पन्न परिस्थिति का लाभ उठाकर उसके अल्सास-लॉरेन जैसे समृद्ध क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया था। इस राष्ट्रीय अपमान को फ्रांस कभी भी भूल नहीं पाया और वह 1871 की अपमानजनक पराजय का बदला और अल्सास-लॉरेन क्षेत्र को पुनः प्राप्त करने हेतु व्यग्र था। ये तो रहा फ्रांस-जर्मनी के तत्कालीन कड़वाहट वाली संबंधों की बात। अब अगर हम ऑस्ट्रिया व रूस के संबंधों का विश्लेषण तत्कालीन परिप्रेक्ष्य में करें तो हम पाएंगे कि बाल्कन क्षेत्र के जटिल मुद्दों एवं आपसी हित को लेकर ऑस्ट्रिया एवं रूस में गंभीर तनाव उत्पन्न था। राष्ट्रीयता की चरम परिणति बाल्कन क्षेत्र में भी कुत्सित रूप में सामने आई। एक व्यवस्था के तहत बोस्निया एवं हर्जोगोविना जैसे सर्वजाति बहुल क्षेत्र ऑस्ट्रिया को दे दिया गया जबकि सर्बिया के दावे को अस्वीकार कर दिया गया। एक और पक्ष जो चुभने वाली थी वह यह कि सर्बिया के लोग स्लाव वंश के थे और रूस अखिल स्लाववाद का दुहाई देकर पूर्वी यूरोप की राजनीति में प्रभाव स्थापित करना चाहता था। राष्ट्रवाद का सबसे विकृत रूप यह था कि कुछ जातियों ने स्वयं को सर्वश्रेष्ठ जाति का होने का दावा प्रस्तुत किया। वे अन्य जातियों पर शासन स्थापित करना अपना जन्म सिद्ध अधिकार समझने लगी। राष्ट्रवाद की इस आंधी में बाल्कन क्षेत्र सहित पूर्वी यूरोप की कुछ अन्य जातियों जैसे बुल्गार, चेक, पोल, सर्व, स्लाव आदि अपने स्वतंत्र राष्ट्र की इच्छा को प्रबलता से प्राप्त करने के लिए उत्तेजित हुई।

- (iv) **सैन्यवाद :** प्रत्यक्ष रूप से सैन्यवाद विभिन्न यूरोपीय साम्राज्यवाद देशों के मध्य होने वाले गुप्त संधियों से जुड़ा हुआ था। इन विभिन्न देशों के मध्य होने वाली गुप्त संधियों ने एक-दूसरे के प्रतिशंका एवं अविश्वास की खाई उत्पन्न कर दी और यही वह तत्त्व था जिसके कारण एक-दूसरे देशों के साथ युद्ध की आशंका बढ़ी। औपनिवेशिक विस्तार तथा उपनिवेशों की रक्षा के लिए सैन्यवाद को प्रश्रय देना विभिन्न साम्राज्यवादी देशों की महती आवश्यकता एवं मजबूरी भी थी।

फ्रांसीसी क्रांति (1789) के परिणामस्वरूप सैन्यवाद का जन्म हुआ तथा जर्मनी-इटली के एकीकरण तक सैन्यवाद अपने विकसित स्तर को प्राप्त कर चुका था। सैनिक शक्ति की आवश्यकता को देखते हुए विभिन्न देशों में सैनिक सेवा अनिवार्य कर दी गई। सैन्य शक्ति में वृद्धि राष्ट्रीय प्रतिष्ठा का





पर्याय बन गया। यूरोपीय देशों के बीच अस्त्र-शस्त्र एवं सैनिकों की संख्या बढ़ाने की होड़ ने गंभीर सैन्य वातावरण का रूप ले लिया। यह समय एक तरीके से अंतर्राष्ट्रीय अराजकता का समय था और इस समय ऐसे वातावरण का निर्माण हुआ जिससे ऐसा लग रहा था कि अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान सिर्फ सैनिक शक्तियों के बल पर ही संभव है। सैन्य अधिकारियों का प्रभाव व्यापक रूप से देश की राजनीति पर था। नीति निर्माण एवं निर्णय कार्यों में उनकी भूमिका बढ़-चढ़कर होती थी। ऐसी स्थिति में जब संकट उत्पन्न होता तो इन सैन्य अधिकारियों द्वारा असैन्य अधिकारियों पर इस बातों का दबाव देकर युद्ध शुरू करने की स्वीकृति ले ली जाती कि थी सामरिक स्थिति नियंत्रण में रहेगी।

(v) **समाचारपत्रों की भूमिका** : विभिन्न यूरोपीय देशों के मध्य प्रकाशित होने वाले समाचारपत्रों ने विभिन्न देशों के बारे में दुष्प्रचार कर युद्ध के वातावरण को विषावत कर दिया। राष्ट्रीय उन्माद एवं उत्तेजना बढ़ाने में ये विभिन्न समाचारपत्र प्रमुख भूमिका निभा रहे थे। यद्यपि 18वीं एवं 19वीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में जनमत का महत्त्व नगण्य ही था, परन्तु 1830 एवं 1848 की फ्रांसीसी क्रांति एवं उसके परिणामस्वरूप यूरोप में आई राजनीतिक चेतना और इटली एवं जर्मनी के एकीकरण में समाचारपत्रों की भूमिका महत्वपूर्ण रही। अब किसी राजनीतिक घटना का प्रभाव उस देश के न सिर्फ शासन एवं प्रशासन से संबंध लोगों पर पड़ता था वरन् वहाँ की जनता भी उस घटना से अपने को संबद्ध कर लेती थी एवं उस पर अपनी प्रतिक्रिया देती थी। वस्तुतः 1871 के बाद फ्रांस का जनमत जर्मनी के विरुद्ध तथा बोस्निया, हर्जोगोबिना एवं सर्बिया की जनता ऑस्ट्रिया के विरुद्ध जबकि रूस की जनता स्लाव जाति के होने के कारण बाल्कन देशों के साथ थी। 1890 के बाद जब जर्मनी ने साम्राज्यवादी नीति को अपनाया तब ब्रिटेन की जनता जर्मनी को अपना शत्रु समझने लगी, क्योंकि जर्मनी ब्रिटिश साम्राज्यवाद के मार्ग में रोड़ा अटकाने लगा था और इस घटना में समाचारों ने जनमत को उत्तेजित किया। इस तरह समाचारपत्रों ने विभिन्न देशों में दूसरे देश के विरुद्ध जनमत तैयार किया।

(vi) **अंतर्राष्ट्रीय अराजकतापूर्ण स्थिति** : बिस्मार्क द्वारा जिस कूटनीतिक जाल को बुनने की परंपरा शुरू की गई थी वह बिल्कुल गुप्त संधियों पर आधारित थी, जिसके परिणामस्वरूप समस्त यूरोप में शंका तथा भय का वातावरण व्याप्त हो गया। अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए किसी भी यूरोपीय देशों को संधि की शर्तों की अवहेलना करने में थोड़ी-सी भी हिचक नहीं होती थीं। 1878 में हुए बर्लिन कांग्रेस के पश्चात् रूस जर्मनी से सख्त नफरत करता था। परन्तु, इसके बावजूद भी रूस जर्मनी से मैत्रीपूर्ण संबंध बनाए रखने का वादा करता रहा। इसी तरह एक तरफ जर्मनी ऑस्ट्रिया के हितों की रक्षा की बात करता रहा एवं रूस से भी 1890 तक मित्रता बनाने की बात पर दृढ़-संकल्प रहा। वस्तुतः सैद्धांतिक तौर पर ब्रिटेन फ्रांस से मित्रता की बात नहीं करता था लेकिन अपने साम्राज्यवादी हितों की रक्षा के लिए जर्मनी के विरुद्ध मित्र की खोज कर रहा था। इटली जर्मनी एवं ऑस्ट्रिया के साथ रहते हुए भी अपने स्वार्थों की पूर्ति हेतु दूसरे गुट के संपर्क में था जिसका खुलासा युद्ध प्रारंभ होने के बाद तब सामने आया जब वह त्रिवर्गीय मैत्री संघ में शामिल हो गया। इन सभी तथ्यों के आधार पर हम कह सकते हैं कि प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व यूरोपीय देशों में अजराजकता फैली हुई थी, जिसमें संधि की शर्तों की अवहेलना तथा मैत्रीपूर्ण संबंध के बावजूद शत्रुवत् षड्यंत्र करना सामान्य बात हो गई थी।

(vii) **बाल्कन क्षेत्र की जटिलता** : बाल्कन क्षेत्र के अन्तर्गत रूस की तनातनी एवं विभिन्न जातियों के बीच विकसित हुई उग्र राष्ट्रवाद से उत्पन्न समस्याओं ने समस्त बाल्कन क्षेत्र के वातावरण को विषावत कर दिया था। बाल्कन क्षेत्र की जटिल समस्या ने त्रिवर्गीय संधि एवं त्रिवर्गीय मैत्री संघ के सदस्यों को आमने-सामने खड़ा कर दिया। वास्तव में एक ओर रूस यदि धर्म एवं जाति के नाम पर स्वयं को स्लाव जाति का संरक्षक समझता था और अखिल स्लाव आंदोलन को बढ़ावा दे रहा था, तो दूसरी ओर ऑस्ट्रिया हर हाल में सर्वआंदोलन को दबाकर इस क्षेत्र में अपना प्रभाव बढ़ाना चाहता था। यद्यपि ये बातें इतनी विषावत नहीं होती यदि सर्बिया को रूस से सहायता की गारंटी नहीं मिली होती एवं रूस की पीठ पर फ्रांस तथा ब्रिटेन के समर्थन की बात नहीं होती। इसी तरह ऑस्ट्रिया भी यदि अकेला होता तो बाल्कन क्षेत्र में युद्ध लड़ने का साहस नहीं करता, परन्तु उसे भी जर्मनी एवं इटली का समर्थन था। इसलिए यह कहना बिल्कुल सच है कि प्रथम विश्वयुद्ध दो घोड़ों (सर्बिया एवं ऑस्ट्रिया) का युद्ध था, घुड़सवार बाद में इस युद्ध में शामिल हुए।

(viii)तात्कालिक कारण (सेराजेवो हत्याकांड) : बोस्निया की राजधानी सेराजेवो में ऑस्ट्रियाई राजकुमार फर्डिनेण्ड हत्या ने बारूद के ढेर को चिंगारी लगा दी और स्थिति विस्फोटक हो गई। ध्यातव्य है कि ऑस्ट्रिया ने 1908 में बोस्निया एवं हर्जोगोविना नामक दो सर्व बहुल प्रांतों पर अधिकार कर लिया था। फलतः राष्ट्रवादी भावना से ओत-प्रोत सर्बिया इन सर्व बहुल क्षेत्र को ऑस्ट्रिया के चुंगल से छुड़ाना चाहता था। इन क्षेत्रों में ऑस्ट्रियाई शासन के खिलाफ बोस्निया-हर्जोगोविना प्रांतों में आतंकवादी आंदोलन का एक लंबा सिलसिला शुरू हुआ। सर्बिया के निर्देश पर कुछ सर्व आतंकवादियों द्वारा ऑस्ट्रिया के युवराज फर्डिनेण्ड की हत्या कर दी गई। ऑस्ट्रियाई सरकार इसके लिए सर्बिया को दोषी मानती थी एवं इस हत्या के लिए सर्बिया को जवाब-तलब किया। सर्बिया के तरफ से जब संतोषजनक जवाब नहीं मिला तो ऑस्ट्रिया ने 28 जुलाई, 1914 को सर्बिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। रूस तुरंत सर्बिया की मदद के लिए युद्ध में शामिल हो गया। फिर, जर्मनी एवं फ्रांस भी अपने-अपने मित्र राज्यों का पक्ष लेते हुए युद्ध में शामिल हो गए। साथ ही, जब जर्मनी ने बेल्जियम पर आक्रमण किया तो अपने ऊपर खतरा देखकर ब्रिटेन ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इस तरह पहली बार विश्वयुद्ध का श्रीगणेश हुआ, जिसमें विश्व के प्रायः सभी देश प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में शामिल हुए।



प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व ऑस्ट्रिया-रूस संबंध एवं बाल्कन क्षेत्र

(Australia-Russia relation before first world war and Balkan region)

19वीं सदी के 5वें दशक तक ऑस्ट्रिया-रूस संबंध काफी सौहार्द्रपूर्ण थे। इस अवधि में दोनों शक्तियों ने आपसी सहयोग से नेपोलियन को पराजित किया एवं 1815 के वियना कांग्रेस के पश्चात् 1848 तक अर्थात् मेटर्निख युग तक दोनों देशों के बीच घनिष्ठ संबंध था। परन्तु, क्रीमिया युद्ध (1853-56) के क्रम में दोनों देशों के प्रगाढ़ संबंध को जबर्दस्त धक्का लगा। युद्ध में ऑस्ट्रिया ने खुलेआम रूस विरोधी दृष्टिकोण अपनाया था। ऑस्ट्रिया की इस कृतघ्नता को रूस कभी नहीं भूल पाया और जब 1866 ई. में ऑस्ट्रिया-प्रशा युद्ध हुआ तो रूस ने स्पष्टतः ऑस्ट्रिया विरोधी रुख अपनाया।

इटली एवं जर्मनी के एकीकरण के फलस्वरूप ऑस्ट्रिया के प्रभाव में कमी आई। ऑस्ट्रिया मूलतः एक साम्राज्यवादी देश था, अतः इटली एवं जर्मनी में समाप्त हुए उसके प्रभाव की भरपाई को कोई विकल्प आवश्यक था। दूसरे शब्दों में, ऑस्ट्रिया के लिए अब एकमात्र क्षेत्र बाल्कन प्रायद्वीप ही था जहां उसकी साम्राज्यवादी लिप्सा पूरी हो सकती थी। अतः 1870 के पश्चात् ऑस्ट्रियाई विदेश नीति मूल रूप में बाल्कन की प्रायद्वीप की ओर बढ़ने पर केन्द्रित हो गई। उधर रूस भी इस क्षेत्र में अपने विस्तार की योजना बनाये हुए था। बाल्कन क्षेत्र में विभिन्न जातियां जैसे बुल्गर, पोल, चेक, सर्व, यूनानी आदि निवास करती थी। इन सभी जातियों में राष्ट्रवाद की प्रबल भावना विकसित हुई और ये ऑटोमन साम्राज्य के अधीन न रहकर अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित करना चाहते थे। कुल मिलाकर इस क्षेत्र में ऑटोमन साम्राज्य की कमजोर पकड़ के कारण अशांति की स्थिति थी। ऑटोमन साम्राज्य की कमजोरी का लाभ उठाकर रूस इस क्षेत्र में बढ़ने का प्रयास कर रहा था तथा उसका एकमात्र उद्देश्य बाल्कन क्षेत्र को पूर्णरूपेण रूसी प्रभाव क्षेत्र में परिवर्तित कर देना था बाल्कन क्षेत्र के प्रायः सभी लोग स्लाव प्रजाति एवं ग्रीक चर्च के अनुयायी थे तथा रूसी लोग भी स्लाव एवं ग्रीक चर्च के ही अनुयायी थे। अर्थात् रूस एवं बाल्कन क्षेत्र के निवासियों के बीच गहरा प्रजातीय एवं धार्मिक संबंध था। यही धर्म एवं प्रजाति नामक तत्त्व था जिसकी आड़ में रूस उन सभी परिस्थितियों को खड़ा कर रहा था जो उसकी विस्तारवादी नीति के मार्ग में सहायक होता। बाल्कन क्षेत्र की इस स्थिति ने ऑस्ट्रिया-रूस के हितों में प्रत्यक्ष टकराहट को बढ़ावा दिया।

बाल्कन क्षेत्र में अपने हितों को साधने हेतु रूस के निर्देश पर एक सर्व स्लाव आंदोलन चला, जिसका उद्देश्य बाल्कन के सभी स्लावों को एकता के सूत्र में आबद्ध करके तुर्की की दासता से मुक्त करना था। इस सर्व स्लाव आंदोलन ने शीघ्र ही तूल पकड़ लिया तथा बाल्कन क्षेत्र के निवासी ऑटोमन शासन के विरुद्ध विद्रोह करने लगे। इस विद्रोह को दबाने के लिए तुर्की सत्ता (ऑटोमन शासक) ने एड़ी-चोटी एक कर दी। फलतः रूस एवं तुर्की के मध्य संघर्ष हुआ जिसमें रूस विजयी रहा और दोनों के बीच 'सन स्टीफानों की संधि' हुई। इस संधि से बाल्कन क्षेत्र में तुर्की साम्राज्य लगभग समाप्त हो गया एवं रूस का व्यापक प्रभाव



बढ़ा। यह स्थिति ऑस्ट्रिया एवं ब्रिटेन के लिए असहनीय था। अतः इन दोनों ने सन स्टीफानों की संधि का विरोध किया। घटनाक्रम ने विभिन्न मोड़ लिए और अंततः सम्मेलन का आधार तैयार हुआ। इस सम्मेलन में बाल्कन क्षेत्र से संबंधित कई महत्वपूर्ण बातें सामने आईं।

इसमें एक महत्वपूर्ण निर्णयों के तहत बोस्निया एवं हर्ज़ेगोविना नामक सर्व बहुल प्रांत को अधिकृत करने एवं उनपर शासन करने का अधिकार ऑस्ट्रिया को मिला जबकि सर्बिया स्वयं को सर्व जाति का पैतृक प्रतिनिधित्व मानता था और इन सर्व बहुल दोनों प्रांतों को अपने अधीन होने की इच्छा रखता था। परन्तु इस सम्मेलन में सर्बिया की मांग को ठुकरा दिया गया। इस व्यवस्था ने भविष्य में रूस एवं ऑस्ट्रिया के टकराव को अवश्यभावी बना दिया।

प्रथम विश्वयुद्ध की पूर्व संध्या पर बाल्कन क्षेत्र की जटिल समस्या ने गंभीर रूप ले लिया। किसी भी हालत में सर्बिया बर्लिन व्यवस्था को स्वीकार करते हेतु तैयार नहीं था और सर्वस्लावाद के रूसी कर्णाधार इस बात को ठीक से समझते थे कि स्लाव एवं द्यूटोनिक जातियों के बीच संघर्ष अवश्यभावी है और रूस को इसके लिए तैयार रहना है। इस परिस्थिति में सर्बिया ने यह निश्चित कर लिया कि किसी भी काम पर उसे अपने स्वैजातियों को मुक्त कराना है। इसके लिए सर्बिया ने रूस के संरक्षण में रहते हुए पराधीन स्लावों को संगठित करना शुरू किया ताकि उनमें विद्रोह की भावना फैलाकर उन्हें ऑस्ट्रिया से मुक्त किया जा सका। ऐसी स्थिति में अक्टूबर, 1908 में ऑस्ट्रिया द्वारा बोस्निया एवं हर्ज़ेगोविना नामक प्रांतों को अधिकृत कर लिया गया। फलतः स्थिति गंभीर होती गई। इस हालात में रूस एवं सर्बिया का प्रोत्साहन पाकर सर्व देशभक्तों ने उग्र एवं आतंकवादी उपायों का सहारा लिया तथा गुप्त संगठनों के माध्यम से ऑस्ट्रियाई पदाधिकारियों की हत्या की जाने लगी। इन कार्रवाईयों से आतंक का वातावरण व्याप्त हो गया। इसी तनाव के वातावरण में बोस्निया की राजधानी सेराजेवो में ऑस्ट्रियाई राजकुमार फ़ैडीनेण्ट की हत्या कर दी गई। जिसमें इन्हीं सर्व आतंकवादियों की भूमिका थी। फलतः ऑस्ट्रिया के लिए स्थिति बर्दाश्त से बाहर की चीज हो गई और अततः सर्बिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की दी। यह युद्ध तो महज ऑस्ट्रिया एवं सर्बिया के मध्य था परन्तु इससे यूरोप की तत्कालीन सभी साम्राज्यवादी शक्तियां भिन्न रूप से जुड़ी हुई थी जैसे-सर्बिया के साथ रूस तथा रूस के साथ ब्रिटेन एवं फ्रांस और इसी तरह ऑस्ट्रिया से जर्मनी एवं तुर्की आदि। फलतः इस नेटवर्क से जितने भी देश जुड़े हुए थे सब एक-दूसरे गुटों के विरुद्ध युद्ध के जाल में फंस गए और इस तरह प्रथम विश्वयुद्ध की शुरुआत हो गई।

प्रथम विश्वयुद्ध की प्रमुख घटना: रूस का युद्ध से अलग होना एवं अमेरिका का युद्ध में प्रवेश (Important Incident of first world war : Separation of Russia and Entry of America in the war)

प्रथम विश्वयुद्ध के क्रम में 1917 में दो प्रमुख घटनाएं महत्वपूर्ण हैं-पहली, रूस में सफल बोलशेविक क्रांति के फलस्वरूप रूस का विश्वयुद्ध से अलग हो जाना जबकि दूसरी घटना थी-अमेरिका का युद्ध में सम्मिलित होना।

1917 की क्रांति के फलस्वरूप रूस में स्थापित बोलशेविक सत्ता ने सर्वप्रथम विश्वयुद्ध से अलग होने की घोषणा की। यद्यपि इस निर्णय की मित्रराष्ट्रों की ओर से तीखी निंदा की गई, परन्तु देशहित में बोलशेविक सरकार का यह निर्णय आवश्यक था। रूस की नई सरकार ने जर्मनी से समझौता कर 'ब्रेस्ट लिटोवस्क' की संधि की। इस संधि के अनुसार रूस ने अपने सारे पश्चिम प्रांत जर्मनी को दे दिए। इससे जर्मनी की स्थिति अत्यंत सुदृढ़ हो गई। जर्मनी ने अपनी सेनाएं पश्चिमी मोर्चे पर भेज दी फलतः मित्र राष्ट्रों की स्थिति संकटपूर्ण हो गई। परन्तु, अमेरिका के युद्ध में प्रवेश करने से मित्र राष्ट्रों की स्थिति मजबूत हुई। इन्हें अमेरिका से धन एवं जन दोनों की प्राप्ति हुई। हालांकि इस युद्ध में अमेरिका शुरू में शामिल नहीं था लेकिन जब जर्मनी द्वारा अमेरिका का यात्री जहाज 'लुसीटानिया' को डूबो दिया गया तो अमेरिका को बाध्य होकर जर्मनी वाले गुट के विरुद्ध में कूदना पड़ा।

पश्चिमी मोर्चे पर स्थापित जर्मनी की प्रसिद्ध 'हिंडेनबर्ग पंक्ति' मित्रराष्ट्रों के विरुद्ध विशेष कारगर साबित नहीं हुई। जर्मनी के सभी मित्र देश एक-दूसरे कर युद्ध में पिछड़ते जा रहे थे। बाल्कन क्षेत्र के बुल्गारिया, तुर्की एवं ऑस्ट्रिया-हंगरी द्वारा आत्म-समर्पण कर दिए जाने के पश्चात जर्मन नेतृत्वकर्ता कैसर विलियम ने स्थिति पर नियंत्रण की व्यापक कोशिश की लेकिन बिगड़ती हुई जर्मनी की स्थिति के कारण विलियम ने सत्ता छोड़ दिया। अंततः जर्मनी ने घुटने टेक दिए तथा प्रथम विश्वयुद्ध का अंत हो गया।

प्रथम विश्वयुद्ध के परिणाम (Consequences of first world war)

- (i) **साम्राज्य विघटन:** प्रथम विश्वयुद्ध का तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि इसने जर्मनी, ऑस्ट्रिया तथा तुर्की साम्राज्यों को छिन्न-भिन्न कर दिया। फलतः यूरोप में अनेक नए देश अस्तित्व में आए, जैसे-यूगोस्लाविया, हंगरी, रोमानिया आदि।
- (ii) **निरंकुश शासकों का अंत एवं गणराज्यों की स्थापना:** युद्ध के दौरान ही रूस में साम्यवादी क्रांति हुई जिसके कारण वहां जारशाही का अंत हो गया और रोमोनेव राजवंश समाप्त हो गया, साथ ही युद्ध के पश्चात् जर्मनी में होहेनजोलर्न और ऑस्ट्रिया-हंगरी में हैप्सबर्ग राजवंश का अंत हो गया। युद्ध के सात वर्ष पश्चात् तुर्की के निरंकुश शासन का भी अंत हो गया। अतः हम प्रथम विश्वयुद्ध को एक क्रांति के रूप में देख सकते हैं, जिसने विभिन्न निरंकुश राजवंशों का अंत कर दिया। युद्ध के पश्चात् यूरोप के विभिन्न देशों में लोकतांत्रिक शासन प्रणाली अस्तित्व में आई जैसे-रूस, जर्मनी, पोलैण्ड, ऑस्ट्रिया, लिथुआनिया, लाटविया, चेकोस्लोवाकिया, फिनलैंड आदि।
- (iii) **रूसी क्रांति :** प्रथम विश्वयुद्ध के 6 देशों में ही रूस में सफल बोल्शेविक क्रांति हुई एवं वहां साम्यवादी सरकार सत्ता में आई। यह क्रांति साम्राज्यवाद की जबर्दस्त विरोधी थी। वास्तव में यह सरकार परतंत्र जातियों को वैचारिक स्तर पर मदद की पक्षधर थी। स्वाभाविक रूप से पूंजीवादी देश इसके विरोधी के रूप में सामने आए। परन्तु, सभी परतंत्र जातियां अपनी स्वाधीनता हेतु सोवियत संघ की ओर आकृष्ट हुईं।
- (iv) **अधिनायकवाद का उदय :** युद्धकाल में युद्ध को भलीभांति संचालित करने हेतु यूरोपीय देशों की सरकारें काफी शक्तिशाली रूप में उभरी। युद्ध पश्चात् की परिस्थिति हेतु यह शक्ति और भी आवश्यक समझी जाने लगी। राजनीतिक नेता देश की भलाई, सुरक्षा, एवं उन्नति की दुहाई देकर असीम अधिकारों का उपभोग करने लगे। इसी आधार पर इटली, स्पेन, जर्मनी रूस आदि देशों में मुख्य राजनीतिक दलों का शासन स्थापित हुआ। इतना ही नहीं, इस स्थिति ने और भी परिवर्तित रूप से मुसोलिनी एवं हिटलर को आगे बढ़ने का मार्ग प्रशस्त किया।
- (v) **अमेरिका की महत्ता में वृद्धि :** प्रथम विश्वयुद्ध के परिणामस्वरूप यूरोपीय देशों का प्रभुत्व समाप्त हो गया। चूंकि युद्ध में खर्च होने वाले अतिशय धन के कारण यूरोपीय देशों को संयुक्त राज्य अमेरिका से भारी मात्रा में कर्ज लेना पड़ा। फलतः युद्ध पश्चात् अमेरिका का प्रभाव बढ़ गया। इससे फ्रांस, जर्मनी, इंग्लैंड आदि देशों का महत्त्व एवं अमेरिका का विश्व शक्ति के रूप में उदय हुआ।
- (vi) **राष्ट्रसंघ की स्थापना :** युद्ध पश्चात् अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा की आवश्यकता को महसूस करते हुए अंतर्राष्ट्रीय संगठन के रूप में राष्ट्रसंघ की स्थापना हुई। इसकी स्थापना में अमेरिकी राष्ट्रपति वुड्रो विल्सन की महान भूमिका रही।
- (vii) **वैज्ञानिक आविष्कार :** युद्ध काल में कई आविष्कार हुए। यह युद्ध, 'केमिस्टो का युद्ध' था। अर्थात् इस युद्ध में रसायनों का व्यापक प्रयोग किया गया था। सैन्य प्रौद्योगिक के विकास ने वैज्ञानिक आविष्कार हेतु उत्प्रेरक का काम किया। हवाई जहाजों, पनडुब्बियों सहित जहरीली गैसों एवं विभिन्न औषधियों की खोज हुई। फलतः विज्ञान के क्षेत्र में विशेष प्रगति दर्ज की गई।
- (viii) **राष्ट्रीयता की विजय :** युद्ध पश्चात् हुए वर्साय की संधि के तहत राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया। इस सिद्धान्त के आधार पर यूरोप में कुल आठ नए देशों का निर्माण हुआ जैसे-हंगरी, चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड, फिनलैंड, लिथुआनिया आदि। इसके बावजूद भी विश्व में ऐसे देश थे जहां इन सिद्धान्तों को मान्यता नहीं दी गई जैसे आयरलैंड, मिस्त्र, भारत आदि जिस पर इंग्लैंड का, फिलीपीन्स पर अमेरिका का एवं कोरिया पर जापान का अधिकार था। इतना ही नहीं, अफ्रीकी क्षेत्रों में यूरोपवासियों के विशाल औपनिवेशिक क्षेत्र थे।
- (ix) **सामाजिक परिणाम :** प्रथम विश्वयुद्ध के क्रम में एवं उसके पश्चात् महिलाओं की तत्कालीन स्थिति में व्यापक सुधार हुआ। युद्ध में सैनिक कार्यों में पुरुषों की भागीदारी के कारण कृषि, उद्योग एवं विभिन्न व्यवसायों में पुरुषों की कमी हो गई। इसका परिणाम यह हुआ कि इन कार्य क्षेत्रों में स्त्रियों की सहभागिता में व्यापक वृद्धि हुई। युद्ध पश्चात् महिलाओं को राजनैतिक अधिकार भी मिले जिसका एक प्रमुख उदाहरण था इंग्लैंड में 1918 में 30 वर्ष से अधिक उम्र की महिलाओं को मताधिकार मिला। विश्वयुद्ध के फलस्वरूप अंतर्राष्ट्रीय सामाजिक समानता का विकास हुआ। युद्धकाल में अनेक देशों के



लोग रंग एवं नस्ली भेदभाव से ऊपर उठकर साथ-साथ लड़े थे। फलतः तीव्र जातीय कटुता में कमी आना स्वाभाविक था। इसके अलावा युद्ध के पश्चात् राजनीति में सर्वहारा का महत्व काफी बढ़ गया, क्योंकि युद्ध के क्रम में मजदूरों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। इसी परिप्रेक्ष्य में समाजवादी विचारधारा का उदय तथा विकास हुआ। युद्धकाल में महत्वपूर्ण उद्योगों को सरकार ने अपने अधिकार में ले लिया और इस रूप में राजकीय समाजवादी विचारधारा का प्रसार किया। श्रमिकों द्वारा श्रमिक हित की प्राप्ति हेतु कतिपय प्रयास किए गए। अनेक श्रमिक संगठन बने। यह एक ऐसी प्रवृत्ति थी जो राष्ट्रसंघ 'अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन' के रूप में सामने आई। यह संगठन अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर श्रमिकों के कल्याण जैसे विषयों पर केन्द्रित था।

विश्वयुद्ध के पश्चात् शिक्षा के क्षेत्र में भी व्यापक विस्तार दर्ज किया गया। इसके अंतर्गत ब्रिटेन में प्राथमिक शिक्षा पर विशेष जोर देते हुए। 14 वर्ष की आयु वर्ग तक के बच्चों को शिक्षा देना आवश्यक कर दिया गया। इसी तरह फ्रांस, जर्मनी, इटली, जापान आदि जैसे देशों में भी शिक्षा के बहुमुखी विकास पर विशेष ध्यान दिया गया।



आर्थिक परिणाम (Economic Consequence)

युद्धकाल में अनेक उद्योग नष्ट हो गए। भयंकर गोलीबारी से धन एवं जन की व्यापक क्षति हुई। युद्धकाल में स्थापित किए गए सैन्य-सामग्री आधारित उद्योग युद्धोपरांत बन्द कर दिए गए। फलतः बेकारी की समस्या उत्पन्न हुई। वाणिज्य एवं व्यापार को भी धक्का लगा, चूंकि युद्धकाल में विभिन्न यूरोपीय देशों में बाहर से आयातित माल पर रोक लगा दी गई थी।

पेरिस शांति सम्मेलन, 1919 (Paris Peace Conference, 1919)

प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी एवं उसके सहयोगी देशों (ऑस्ट्रिया, हंगरी, बुल्गारिया एवं तुर्की) की पराजय हुई तथा विजयी मित्रराष्ट्रों ने युद्धोत्तर काल की व्यवस्था स्थापित करने के उद्देश्य से 1919 में पेरिस में एक शांति-सम्मेलन का आयोजन किया। वैसे तो इस सम्मेलन में सभी विजयी देशों के प्रतिनिधि शामिल हुए थे। परन्तु सम्मेलन के प्रमुख निणयों में अमेरिकी राष्ट्रपति वुड्रो विल्सन, ब्रिटिश प्रधानमंत्री लॉर्ड जॉर्ज, फ्रांसीसी प्रधानमंत्री क्लिमेंशू एवं इटली के आयरलैंड का ही निर्णायक प्रभाव पड़ा था। फ्रांस के विदेश मंत्रालय में शांति सम्मेलन का अधिवेशन प्रारंभ हुआ। इस सम्मेलन की अध्यक्षता फ्रांसीसी प्रधानमंत्री क्लिमेंशू की थी। इस सम्मेलन में पराजित धुरी राष्ट्रों से समझौता करने हेतु 5 शांति संधियों का प्रारूप तैयार किया गया। इन शांति संधियों के फलस्वरूप यूरोप का राजनीतिक व भौगोलिक मानचित्र बिल्कुल परिवर्तित हो गया तथा अनेक भावी समस्याओं की उत्पत्ति हुई। इस सम्मेलन में जिन 5 संधियों का मसविदा तैयार किया गया, वे इस प्रकार हैं-

- (i) वर्साय की संधि (28 जून, 1919) - जर्मनी के साथ
- (ii) सेंट जर्मेन की संधि (10 दिसंबर, 1919) - ऑस्ट्रिया के साथ
- (iii) निउली की संधि (27 नवंबर, 1919) - बुल्गारिया के साथ
- (iv) त्रियानो की संधि (4 जून, 1920) - हंगरी के साथ
- (v) सेब्रे की संधि (10 अगस्त, 1920) - तुर्की के साथ

वर्साय की संधि (Treaty of Versailles)

मित्र राष्ट्रों द्वारा की गई सभी संधियों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण संधि ही थी जो जर्मनी के साथ की गई थी। चार महीने के अथक परिश्रम के पश्चात् तैयार हुई उक्त संधि का मसविदा मित्रराष्ट्रों ने जर्मन प्रतिनिधिमंडल के सम्मुख प्रस्तुत किया। इस संधि पर विचार करने हेतु जर्मनी को दो सप्ताह का समय दिया गया। निश्चित ही यह संधि पूर्ण रूप से मित्रराष्ट्रों के हितों की संवर्धन एवं जर्मन हित के बलिदान पर आधारित थी। अतः जर्मनी द्वारा इस संधि की शर्तों का विरोध हुआ, तो ब्रिटिश प्रधानमंत्री लॉर्ड जॉर्ज द्वारा जर्मनी के साथ पुनः युद्ध की धमकी दी गई। फलतः जर्मनी को बाध्य होकर वर्साय की संधि को स्वीकार करना पड़ा।

वर्साय की संधि की शर्तें (Terms of treaty of Versailles)



- (A) **प्रादेशिक व्यवस्था** - अल्सास लॉरेन का प्रसिद्ध समृद्ध क्षेत्र, जो 1871 ई. में जर्मनी द्वारा फ्रांस से छीन लिया गया।, वर्साय की संधि के तहत पुनः जर्मनी से लेकर फ्रांस को दे दिया गया। जर्मनी की सैन्य शक्ति से भयभीत फ्रांस के प्रधानमंत्री विलमेशू ने अपने देशको सुरक्षित रखने के लिए राइन नदी के बाएं किनारे अर्थात् राइनलैंड पर लगभग 31 मील क्षेत्र का स्थायी रूप से असैन्यकरण कर दिया। इसका अभिप्राय यह था कि इस 31 मील वाले भू-भाग पर जर्मनी कभी भी सैन्य गतिविधियां संचालित नहीं करेगा। इसके अलावा राइनलैंड को उत्तरी, मध्य एवं दक्षिणी तीन भागों में विभक्त कर यह व्यवस्था की गई कि मित्रराष्ट्रों की सेनाएं उत्तरी भाग पर 5 वर्ष तक, मध्य पर 10 वर्ष तक एवं दक्षिणी भाग पर अगले 15 वर्ष तक क्षेत्र में सुरक्षा बनाए रखने हेतु मौजूद रहेंगी।

यद्यपि फ्रांस राइनलैंड को प्राप्त करने की इच्छा रखता था। परन्तु जब उसकी यह मंशा पूर्ण नहीं हो पायी तो उसने जर्मनी के समृद्ध कोयला क्षेत्र “सार” पर अधिकार करने का दावा प्रस्तुत किया और अंततः यह तय हुआ “सार” क्षेत्र की शासन व्यवस्था के अधीन संचालित होगी एवं सार के कोयला खानों पर फ्रांस का स्वामित्व स्थापित हुआ। इस संबंध में एक और महत्वपूर्ण बात यह थी कि इन क्षेत्रों में 15 वर्षों के पश्चात् जनमत संग्रह द्वारा यह तय किया जाएगा कि यहां के लोग जर्मनी या फ्रांस में किसके साथ रहना चाहते हैं और यदि इस जनमत संग्रह का परिणाम जर्मनी के पक्ष में जाता है तो उस स्थिति में इन कोयले की खानों को जर्मनी फ्रांस को निश्चित मूल्य देकर खरीद सकता है।

जर्मनी को सर्वाधिक नुकसान उसकी पूर्वी सीमा पर हुआ। मित्रराष्ट्रों द्वारा एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में पोलैण्ड के निर्माण का निर्णय लिया गया और जर्मनी के पूर्वी सीमा के अधिकांश भू-भाग को छीनकर नवनिर्मित पोलैण्ड राज्य को दे दिया गया। पोलैण्ड के लिए एक निश्चित समुद्री क्षेत्र प्राप्त करने हेतु जर्मनी के बीचोंबीच एक विस्तृत भू-भाग जिसके अंतर्गत पोसेन एवं पश्चिमी प्रशा का संपूर्ण क्षेत्र शामिल था, पोलैण्ड को दे दिया गया। यह प्रदत्त क्षेत्र ‘पोलिश गलियारा’ के नाम से प्रसिद्ध था। इसके कारण पूर्वी प्रशा शेष जर्मनी से एकदम अलग-थलग हो गया। पोलिश गलियारे के उत्तरी छोर पर डान्जिंग नामक प्रसिद्ध बंदरगाह था जहां की संपूर्ण आबादी जर्मन थी। परन्तु विबंडना ये थी कि डान्जिंग का एक ‘स्वतंत्र नगर’ घोषित कर उसे राष्ट्रसंघ के संरक्षण में रखा गया। प्रसिद्ध बाल्टिक बंदरगाह ‘मेमेल’ का प्रारंभ में राष्ट्रसंघ के संरक्षण में रखा गया। परन्तु बाद में इसे लिथुआनिया के अधीन कर दिया गया। श्लेसविग का प्रसिद्ध डच क्षेत्र जो 1864 में बिस्मार्क ने डेनमार्क से छीन लिया था, एक जनमत संग्रह के परिणाम के आधार पर पुनः डेनमार्क को लौटा दिया गया। इसके अतिरिक्त जर्मनी को साइलेशिया नामक क्षेत्र का एक छोटा भाग चेकोस्लोवाकिया को देने पड़े तथा यूपेन, मार्सनेट एवं मल्मेडी के क्षेत्र बेल्जियम को मिले।

प्रशांत महासागर क्षेत्र में स्थित विभिन्न द्वीपों सहित अफ्रीकी महादेश में स्थित चार जर्मन उपनिवेशों से जर्मनी को वंचित कर दिया गया एवं इसे मित्रराष्ट्रों के संरक्षण में रखा गया। इस प्रादेशिक व्यवस्था से लगभग 13 प्रतिशत भू-भाग एवं 10 प्रतिशत आबादी जर्मनी के हाथ से निकल गयी। इस अन्यायपूर्ण व्यवस्था के आधार पर कहा जा सकता है कि जर्मनी प्रतिशोध की भावना में अधिक समय तक इंतजार नहीं कर सकता था।

- (B) **सैन्य व्यवस्था** : वर्साय संधि की सैनिक व्यवस्था भी जर्मनी हेतु काफी अपनाजनक एवं सैन्य दृष्टि से इसे निर्बल करने के उद्देश्य से प्रेरित थी। इस संधि के तहत जर्मन की अधिकतम संख्या एक लाख तय की गई। जर्मनी का प्रधान सैनिक कार्यालय समाप्त कर दिया जाएगा। सैन्य सामग्री सहित युद्धोपयोगी वस्तुओं के उत्पादन पर प्रतिबंध लगा दिया गया। इतना ही नहीं जर्मनी के सभी नौ सैनिक जब्त कर लिए गए और साथ ही यह तय किया गया कि जर्मनी की नौ सेना में केवल छह युद्धपोत एवं इतने ही संख्या में गश्ती जहाज होंगे। जर्मनी हेतु पनडुब्बी जहाजों के निर्माण पर प्रतिबंध लगा दिए गए। आमतौर पर हम कह सकते हैं कि जर्मनी हेतु निःशस्त्रीकरण की व्यवस्था आरोपित कर उसे सैन्य दृष्टि से बिल्कुल ही पंगु बना दिया गया। निःशस्त्रीकरण पर आधारित इस घृणित व्यवस्था के अनुपालन एवं निगरानी हेतु जर्मन के खर्चे पर मित्रराष्ट्रों द्वारा एक सैन्य आयोग स्थापित किया गया। ज्ञातव्य है कि जर्मनी के अत्यंत ही संवेदनशील राइनलैंड क्षेत्र का स्थायी रूप से असैन्यकरण कर दिया गया एवं इस क्षेत्र का अगले पंद्रह वर्षों के लिए मित्रराष्ट्रों के आधिपत्य में रखने की व्यवस्था की गई।



(C) **आर्थिक-व्यवस्था** : वर्साय संधि के तहत की गई व्यवस्था ने आर्थिक दृष्टि की अर्थव्यवस्था की रीढ़ तोड़ दी। चूंकि इस संधि में इस बात को स्पष्ट रूप से रेखांकित किया गया था कि जर्मनी एवं उसके राज्य ही विश्वयुद्ध के विस्फोट हेतु जिम्मेदार हैं। इसी आधार पर युद्ध में मित्रराष्ट्रों को हुई क्षति की भरपाई के लिए जर्मनी को क्षतिपूर्ति का दायित्व सौंपा गया। यद्यपि क्षतिपूर्ति की वास्तविक रकम वर्साय संधि में निश्चित नहीं की गई थी परन्तु यह व्यवस्था अवश्य की गई थी कि 1921 ई. तक जर्मनी 5 अरब डॉलर जमा करे। क्षतिपूर्व से संबंधित एक बात और तय की गई कि क्षतिपूर्ति आयोग की संस्तुति पर ही अंतिम रकम तय की जाएगी। युद्धकाल में जर्मनी द्वारा फ्रांस के लोहे एवं कोयले का भरपूर उपयोग किया गया था और इसी आधार पर लोहे एवं कोयले से खानों से समृद्ध जर्मनी का सार क्षेत्र आगामी 15 वर्षों के लिए फ्रांस को दे दिया गया।

वर्साय- संधि एवं द्वितीय विश्वयुद्ध (Treaty of Versailles and second world war)

यह कहना काफी हद तक सत्य है कि वर्साय की संधि प्रत्यक्ष रूप से द्वितीय विश्वयुद्ध के लिए जिम्मेदार थी। वर्साय संधि का उद्देश्य यूरोप में स्थायी शांति स्थापित करना था, परन्तु इसके मूल में विद्यमान विषाद बीज मात्र 20 वर्षों के भीतर ही फूट पड़ा और द्वितीय विश्वयुद्ध के रूप में विश्व के महाविनाश का कारण बना।

यह तो निश्चित ही था कि वर्साय की संधि जैसे कठोर एवं अपमानजनक संधि की शर्तों को कोई भी स्वाभिमानी देश लंबे समय तक बर्दाश्त नहीं कर सकता था। अतः यह तो स्वाभाविक ही था कि भविष्य में जर्मनी पुनः युद्ध द्वारा अपने अपमान को धोने का प्रयत्न करता। द्वितीय विश्वयुद्ध के बीज वर्साय की आरोपित संधि के शर्तों में मौजूद थे। चूंकि 1919 में जर्मनी असहाय था। अतः वह वर्साय की कठोर संधि को घूट पीकर रह गया। परन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे-वैसे वह शक्ति का संचय कर संधि की एक-एक शर्त का उल्लंघन करने लगा। इस कठोर एवं प्रतिशोधात्मक संधि के अनेक भाग मित्रराष्ट्रों की सहमति, एवं विश्वोभ से संशोधित तथा भंग होते चले गए एवं जर्मनी ने संधि की शर्तों को टुकड़ाने में कोई भी कसर नहीं छोड़ी। इस बात को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है कि विश्व के किसी भी संधि में इतनी तीव्र गति से संशोधन नहीं हुई जितने कि वर्साय संधि में। 1926 में इस संधि के प्रथम भाग में संशोधन किए गए जब जर्मनी को राष्ट्रसंघ की सदस्यता मिली। क्षतिपूर्ति के प्रश्न को अंततः सन् 1932 में लोजान सम्मेलन द्वारा समाप्त ही कर दिया गया। 1933-34 में जर्मन राजनीति में हिटलर के उत्कर्ष के पश्चात् वर्साय संधि की शर्तों को तोड़ना तो बहुत छोटी सी बात रह गई। 1935-36 में निःशस्त्रीकरण संबंधी वर्साय संधि की शर्तों की सभी मर्यादाओं को हिटलर ने भंग कर दिया, खासकर जर्मन सेना का सीमित करने वाली शर्त को। हिटलर के नेतृत्व में जर्मनी ने शीघ्र ही अपने खोए हुए भू-भाग को पुनः प्राप्त करने का सिलसिला प्रारंभ किया। 1935 में उसने राइनलैंड में फौज भेजकर उस पर अधिकार कर लिया और इस रूप में असैनिकीकरण संबंधी वर्साय संधि के उपबंधों को अस्वीकृत कर दिया। सितंबर, 1938 में जर्मन अल्पसंख्यकों को चेकोस्लोवाकिया से मुक्त कराने हेतु प्रेरित हुआ एवं लगभग समस्त चेकोस्लोवाकिया को ही जर्मनी में विलयित कर लिया। चेकोस्लोवाकिया पर अधिकार कर लेने के पश्चात् हिटलर ने अब पोलिश गलियारा एवं डान्जिंग के बंदरगाह की ओर ध्यान केन्द्रित किया। अंततः जब वर्साय संधि द्वारा पोलैंड संबंधी व्यवस्थाओं को तोड़ने का प्रयत्न किया गया तो इसकी परिणति द्वितीय विश्वयुद्ध के रूप में सामने आई। अतः कहा जा सकता है कि वर्साय संधि की अन्यायपूर्वक एवं आरोपित व्यवस्थाओं को तोड़ने के लिए ही हिटलर ने घटनाओं की वह अनवरत् श्रृंखला शुरू की, जिसके कारण द्वितीय विश्वयुद्ध का विस्फोट हो गया। अतः एक अर्थ में वर्साय संधि शांति का अंत करने वाले संधि थी।

सेंट जर्मेन की संधि (Treaty of Saint-Germain)

ऑस्ट्रिया के साथ मित्र राष्ट्रों की संधि पेरिस के समीप सेंट जर्मेन में हुई। इस संधि के अनुसार ऑस्ट्रियन साम्राज्य का विखंडन हो गया। ऑस्ट्रिया ने हंगरी, पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया तथा यूगोस्लाविया की स्वतंत्रता को मान्यता दी। इन सभी राष्ट्रों को ऑस्ट्रिया-हंगरी के बहुत से भू-भाग प्राप्त हुए। इस लूट में इटली भी कुछ पाने की इच्छा रखता था, एवं उसे भी इरीट्रिया के क्षेत्र प्राप्त हुए।

सेंट जर्मेन की संधि के परिणामस्वरूप ऑस्ट्रिया को अपनी जनसंख्या एवं क्षेत्रफल के हिसाब से तीन-चौथाई हिस्से की हानि उठानी पड़ी। निःशस्त्रीकरण की प्रक्रिया ऑस्ट्रिया में भी हुई। ऑस्ट्रियाई सैनिकों की संख्या घटाकर 30 हजार कर दी गई, नौसैनिक जहाज जब्त कर लिये गए, डैन्यूब नदी का अंतर्राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। इतना ही नहीं, युद्ध की जिम्मेदारी का भार ऑस्ट्रिया पर भी डाला गया तथा क्षतिपूर्ति हेतु बड़ी रकम हर्जाने के रूप में देने की बात तय हुई।



त्रियानों की संधि (Treaty of Trianon)

यह संधि मित्र राष्ट्रों एवं हंगरी के बीच संपन्न हुई थी। इस संधि द्वारा हंगरी का अंग-भग कर दिया गया जैसे-ट्रांसिलवेनिया एवं उसके साथ के कुछ प्रदेश रोमानिया को दिए गए। क्रोशिया, स्लोवानिया, बोस्निया-हर्जेगोविया युगोस्लाविया को तथा स्लोवाकिया के क्षेत्र चेकोस्लोवाकिया को प्राप्त हुए, समुद्री मार्ग हेतु प्युम के भाग्य का निर्णय इटली एवं यूगोस्लोवाकिया की सहमति पर छोड़ दिया गया। इन विभिन्न कठोर संधियों के प्रति हंगरीवासियों में व्यापक आक्रोश फैला।

निउली की संधि (Treaty of Neuilly)

मित्र राष्ट्रों ने बुल्गारिया के साथ निउली की संधि की। इस संधि के तहत बुल्गारिया को जाते हुए प्रदेशों को वापस करना पड़ा। मैसिडोनिया का अधिकांश हिस्सा यूगोस्लाविया को एवं ब्रेस का प्रदेश यूनान को दिया गया। साथ ही बुल्गारिया को भी सैन्य एवं आर्थिक दृष्टिकोण से एकदम पंगु बनाने की हरसंभव कोशिश की गई। फलतः बुल्गारिया में भी इस संधि के प्रति तीव्र विरोध सामने आया।

सेब्रे की संधि (Treaty of Serves)

इस संधि के अनुसार तुर्की साम्राज्य का विखंडन कर दिया गया। एक व्यवस्था के तहत तुर्की की सीमा एशिया माइनर प्रायद्वीप एवं कुस्तुनतुनिया नगर तक सीमित कर दी गई। साथ ही एक ही विशेष प्रावधान द्वारा संरक्षण-प्रणाली की व्यवस्था की गई थी। इस प्रणाली के तहत फिलिस्तीन, ट्रांसजॉर्डन एवं मेसोपोटामिया इंग्लैंड को, जबकि सीरिया एवं लेबनान फ्रांस को प्रदान किए गए।



8. द्वितीय विश्वयुद्ध (Second World War)



1 सितंबर, 1939 को जर्मनी पोलैण्ड पर आक्रमण के साथ ही घटनाओं का वह सिलसिला शुरू हुआ, जिसने द्वितीय विश्वयुद्ध को व्यापक आधार प्रदान किया।

द्वितीय विश्वयुद्ध वर्साय संधि की कठोरता, विश्वव्यापी आर्थिक मंदी, तानाशाही राजनीति, इंग्लैंड की तुष्टिकरण की नीति, शस्त्रीकरण, शक्ति-संतुलन की गड़बड़ी आदि जैसे कुछ मूलभूत कारणों का समन्वित परिणाम था। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद गंभीर आर्थिक समस्याओं एवं विषावत राजनीतिक परिदृश्य के रूप में उभरती चुनौतियों का सामना करने में अंतर्राष्ट्रीय संगठन 'राष्ट्रसंघ' सफल नहीं हो सका। संदेह एवं शक्ति-संतुलन की राजनीति में कोई भी देश एक-दूसरे के ऊपर विश्वास करने को किसी भी हालत में तैयार नहीं थे। संयोग से यूरोपीय राजनीति में इटली एवं जर्मनी में क्रमशः मुसोलिनी एवं हिटलर जैसे तानाशाहों के अधीन सत्ता स्थापित हुई। द्वितीय विश्वयुद्ध के बारे में एक धारणा जो प्रचलित है वह यह कि द्वितीय विश्वयुद्ध एक प्रतिशोधात्मक युद्ध था। इसमें कोई दो राय नहीं कि 1919 के पश्चात् विभिन्न यूरोपीय देशों में अधिनायक तंत्र अस्तित्व में आए, जो इस बात की पुष्टि करता है कि ये देश अपने अपमान का बदला लेने के लिए तैयार थे। इन सभी कारणों के समन्वित परिणाम से द्वितीय विश्वयुद्ध अवश्यम्भावी हो गया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण (Causes of Second World war)

यह कहना बिल्कुल जायज है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बीज 1919 के पेरिस शांति समझौते में अंतर्निहित थे। इस सम्मेलन में जर्मनी के साथ अपमानजनक, कठोर एवं आरोपित वर्साय की संधि की गई थी और ये बातें तो निश्चित ही थी कि जर्मनी इन कठोर शर्तों को लंबे समय तक नहीं खींच सकता था। शस्त्रों की होड़, उग्र राष्ट्रवादी भावनाएं एवं राष्ट्रसंघ की कमजोरी जैसे कुछ ऐसे निर्णायक कारक भी थे, जिसने परिस्थिति को द्वितीय विश्वयुद्ध में परिवर्तित कर दिया।

इस विश्वयुद्ध के प्रमुख कारण निम्नलिखित थे-

- (i) **वर्साय संधि की त्रुटियाँ :** वर्साय की संधि में ही विश्वयुद्ध के बीज निहित थे। पेरिस शांति संधि के समय यह बात खुलकर सामने आई कि वर्साय संधि द्वारा एक ऐसे विष वृक्ष का बीजारोपण किया जा रहा है जो जल्द ही भयंकर विनाशालीला को दस्तक देगी एवं इसका फल समस्त मानव जगत को भुगतना पड़ेगा। वस्तुतः जर्मनी के साथ की गई वर्साय की संधि में वुडरो विल्सन के आदर्शवादी सिद्धान्तों की सर्वथा उपेक्षा की गई थी। पराजित जर्मनी के समक्ष आरोपित एवं कठोर संधि को स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई दूसरा विकल्प नहीं था। इस स्थिति में जर्मनी के लिए यही बुद्धिमानी होती कि वह वर्साय संधि के इस कड़वे घूंट को पी जाए। गौरतलब है कि इस संधि ने जर्मनी को सैन्य एवं आर्थिक दृष्टिकोण से पंगु बना दिया। जर्मनी से अल्प्स-लॉरेन के क्षेत्र एवं श्लेसविग के छोटे राज्य छीन लिए गए थे, पोलैण्ड गलियारा निर्मित कर पोलैण्ड का विच्छेद कर दिया गया था, उसे अपने सभी उपनिवेशों से हाथ धोना पड़ा, सार क्षेत्र के प्रसिद्ध खानों से 15 वर्षों के लिए वंचित कर दिया गया था। इसके अतिरिक्त जर्मनी को आर्थिक साधनों से वंचित कर उस पर क्षतिपूर्ति की भारी रकम थोप दी गई एवं उसे वसूलने के लिए कठोर साधन अपनाए गए। फ्रांस द्वारा जर्मनी के प्रसिद्ध 'रूर क्षेत्र' पर अधिकार कर लिया गया। इस रूर क्षेत्र में जर्मन जनता के साथ घोर अत्याचार किया गया। यद्यपि जर्मनी भीषण आर्थिक संकट से घिरा हुआ था, फिर भी क्षतिपूर्ति के मामलों में उस पर कोई दया नहीं दिखाई गई। जर्मनी पर निः शस्त्रीकरण जैसी कठोर शर्तें लाद दी गईं तथा मित्रराष्ट्रों ने जर्मनी को यह आश्वासन दिया कि वे अपने आयुध भंडार में कमी करेंगे, हालाँकि इस दिशा में उनका प्रयास नगण्य रहा। इस तरह जर्मनी को हर दृष्टि से अपमानित करने का प्रयास किया गया। अतः यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वह चुप रहकर इन अपमानों का सहन करता रहेगा। मित्रराष्ट्र भी इस बात को भलीभांति समझते थे कि जैसे ही जर्मनी को मौका मिलेगा। वह इस अपमान को धोने का प्रयास अवश्य करेगा। इसी संबंध में प्रसिद्ध फ्रांसीसी सेनापति मार्शल फॉच ने 1919 में ही यह कहा था कि "वर्साय की संधि शांति की संधि नहीं, वरन् यह

महज युद्धविराम संधि मात्र है" इसी परिप्रेक्ष्य में जर्मनी में हिटलर जैसा योग्य नेता सामने आया और उसने जर्मनी को वर्साय संधि के अपमान से छुटकारा दिलाने का भरसक प्रयास किया। अंततः इसी प्रयास की परिणति द्वितीय विश्वयुद्ध के रूप में हुई।

- (ii) तृष्टिकरण की नीति-सत्ता अधिग्रहण (1933) करने के बाद हिटलर ने उग्र विदेश नीति का अवलंबन किया तथा वर्साय संधि की एक-एक शर्तों को तोड़ना शुरू किया। जर्मनी में सैनिक सेवा अनिवार्य कर दी गई एवं भारी मात्रा में अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण कार्य शुरू हुआ। यह वर्साय की संधि का खुला उल्लंघन था। परन्तु, हिटलर के इस कारनामे पर कोई भी देश रोक लगाने की हिम्मत नहीं जुटा पाया और देखते-देखते हिटलर ने वर्साय की संधि के एक-एक शर्तों को तोड़कर साम्राज्यवादी नीति का अवलंबन किया। वर्साय की संधि के द्वारा राइन क्षेत्र का असैनिकीकरण कर दिया गया था, परन्तु हिटलर ने बगैर परवाह किए 1935 में इस क्षेत्र में सेना भेजकर उस पर अधिकार कर लिया एवं किलेबंदी का कार्य शुरू कर दिया। ब्रिटेन तथा फ्रांस जैसी शक्तियां उसका विरोध नहीं कर सकीं और हिटलर का हौसला बढ़ता गया एवं 1938 में ऑस्ट्रिया का जर्मनी में विलय कर एक महान साम्राज्य की नींव डाली गई। अब हिटलर ने चेकोस्लोवाकिया के सुडेटनलैंड का प्रश्न उठाया, जहां बहुसंख्यक आबादी जर्मन थी। हिटलर ने सुडेटनलैंड के प्रश्न को जोर-शोर से अंतर्राष्ट्रीय पटल पर उठाया तथा इस घटना ने यूरोपीय देशों में युद्ध जैसे गंभीर संकट की स्थिति पैदा कर दी। परन्तु, हिटलर ने बड़े ही कुशलतापूर्वक सुडेटनलैंड सहित लगभग संपूर्ण चेकोस्लोवाकिया को हस्तगत कर लिया। ये तो रही जर्मनी की बात अब अन्य फासिस्ट शक्तियों द्वारा किए गए आक्रमक कार्यवाही को रोकने का भी कोई यथोचित प्रयास नहीं किया गया। 1931 में जापान अपने साम्राज्यवादी लिप्सा के तहत मंचूरिया पर अधिकार कर लिया। उक्त प्रश्न राष्ट्रसंघ के पास पहुंचने के बावजूद भी जापान के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की गई। इस तरह इटली द्वारा अबीसिनिया पर किए गए आक्रमण एवं अधिकार के विरोध में राष्ट्रसंघ में शिकायत दर्ज की गई परन्तु इसका भी कोई सार्थक परिणाम सामने नहीं आया। इस संबंध में हम कह सकते हैं कि यदि ब्रिटेन एवं फ्रांस जैसी शक्तियां राष्ट्रसंघ में प्रभावी भूमिका निभाती तो यह संभव था कि अंतर्राष्ट्रीय अराजकता का वातावरण तैयार नहीं होता। इस तरह ये बात खुलकर सामने आ गई कि ब्रिटेन एवं फ्रांस ने सामूहिक सुरक्षा के सिद्धांत का खुलकर मजाक उड़ाया। अगर हम इस तथ्य पर विचार करें कि ब्रिटेन एवं फ्रांस ने तटस्थ अथवा तुष्टीकरण की नीति क्यों अपनाई? उक्त प्रश्नों का जवाब होगा कि 'इस तुष्टीकरण का सबल आधार यह था कि हिटलर एवं मुसोलिनी की कुछ शिकायतें दूर कर दी जाएं तो वे संतुष्ट हो जाएंगे एवं सभी समस्याओं का शांतिपूर्वक समाधान संभव हो सकेगा।' परन्तु, ब्रिटेन एवं फ्रांस जैसी शक्तियों की यह एक महान भूल थी कि हिटलर एवं मुसोलिनी की तृष्णा तथा अभिलाषाओं को शांत किया जा सकता है। वास्तव में ब्रिटेन एवं फ्रांस के नीति निर्धारक सोवियत साम्यवाद के विरुद्ध हिटलर एवं मुसोलिनी के आक्रामक उद्देश्यों को मोड़ना चाहता थे। ये देश सोवियत साम्यवादी देश से भयभीत थे और यह इच्छा रखते थे कि साम्यवाद एवं फासिस्टवाद एक-दूसरे से लड़कर एक-दूसरे को बर्बाद कर दें। परन्तु हिटलर एवं मुसोलिनी जैसे फासिस्ट शक्तियों का गुस्सा सोवियत संघ के विरुद्ध न उतारकर ब्रिटेन एवं फ्रांस समर्थित राष्ट्रों पर ही उतरा, विशेषकर जब हिटलर ने पोलैण्ड के विरुद्ध सैन्य कार्यवाही कर द्वितीय विश्वयुद्ध को आरंभ किया।

- (iii) **राष्ट्रसंघ की विफलता :** राष्ट्रसंघ की स्थापना प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् युद्धों के रोकथाम एवं परस्पर झगड़ों को शांतिपूर्ण ढंग से निपटाकर विश्व शांति बनाए रखने के उद्देश्य से की गई थी। परन्तु यह दुर्भाग्यपूर्ण रहा कि राष्ट्रसंघ अपने इस उद्देश्य को पूरा करने में विफल रहा। यह संगठन शीघ्र ही महाशक्तियों के हाथ की कठपुतली बनकर रह गया, जो उसे स्वार्थ साधने हेतु उपयोग में लाते थे। इस संगठन में अनेक दुर्बलताएं थीं-सर्वाधिक शक्तिशाली देश सयुक्त राज्य अमेरिका राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं था। राष्ट्रसंघ के पास अपनी निजी सेना नहीं थी जिसके बल पर वह अपने निर्णयों को मनवा सके। इसका परिणाम यह हुआ कि सभी देशों ने उसकी अवहेलना शुरू की। जापान जर्मनी एवं इटली जैसे देश राष्ट्रसंघ से अपना संबंध विच्छेद कर मनमानी करने लगे तथा राष्ट्रसंघ इस स्थिति में कुछ नहीं कर सका। इस तरह हम कह सकते हैं कि राष्ट्रसंघ की इस दुर्बल स्थिति ने द्वितीय विश्वयुद्ध का मार्ग प्रशस्त किया। इसके अतिरिक्त राष्ट्रसंघ निःशस्त्रीकरण के मुद्दों पर भी विफल रहा। हालांकि इसके लिए प्रयास तो हुए थे परन्तु परस्पर मतभेदों के कारण इस दिशा में कोई खास प्रगति नहीं हो पाई। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि शस्त्रास्त्रों की





होड़ मच गई। संपूर्ण यूरोपीय राजनीतिक वातावरण इसकी होड़ में शामिल हो गया। फ्रांस जर्मनी से निरंतर भयभीत रहता था और इसी को ध्यान रखकर उसने अपने सैन्य शक्ति में वृद्धि के लिए बढ़-चढ़कर प्रयास किया। फ्रांस ने अपनी सीमा पर 'मैगिनी लाइन' का निर्माण किया और बंकरों के निर्माण की गतिविधियां तीव्र की। इसके प्रतिक्रियास्वरूप जर्मनी ने भी 'मैगिनी लाइन' के समानान्तर किलों की श्रृंखला निर्मित की जिसे 'सीजफ्रेड लाइन' कहा गया। यह 'सीजफ्रेड लाइन' जर्मनी के पश्चिमी सीमा को मजबूत बनाने के उद्देश्य से की गई थी एवं यहां से वह फ्रांस पर आक्रमण करने में समर्थ होता। अतः विभिन्न देशों की इस सैन्य तैयारियों के कारण युद्ध का छिड़ना महज समय की बात रह गई थी।

(iv) **तात्कालिक कारण :** 1938 में हिटलर की आक्रामता के फलस्वरूप यूरोप का वातावरण अत्यंत ही तनावपूर्ण हो गया था। वर्साय की संधि के तहत निर्मित 'पोलिश गलियारा' द्वारा जर्मनी का अंग विच्छेद कर दिया गया था एवं डान्जिंग बंदरगाहका अंतर्राष्ट्रीयकरण कर उसे राष्ट्रसंघ के संरक्षण में रखा गया था। जर्मन बहुल इस क्षेत्र की प्राप्ति हेतु हिटलर द्वारा यह गई। इस स्थिति में ब्रिटेन एवं फ्रांस को अपनी तुष्टीकरण की नीति का असफलता का अहसास हुआ।

हालांकि जर्मनी एवं पोलैण्ड के मध्य विवाद को सुलझाने का प्रयास किया गया लेकिन अंततः 1 सितंबर, 1939 को जर्मनी ने पोलैण्ड पर आक्रमण कर द्वितीय विश्वयुद्ध का आगाज किया। 3 सितंबर को ब्रिटेन तथा फ्रांस द्वारा जर्मनी के विरुद्ध युद्ध में शामिल होने की घोषणा के साथ ही सभी महान शक्तियां युद्ध में संलग्न हो गईं।

द्वितीय विश्वयुद्ध की महत्वपूर्ण घटनाएं (Important Incidents of second world war)

(i) **पोलैण्ड पर आक्रमण :** जर्मनी एवं रूस के मध्य पोलैण्ड को आपस में बांट लेने संबंधी समझौतों के फलस्वरूप 1 सितंबर 1939 को जर्मन सेना ने द्रुतगति से पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया एवं 27 सितंबर तक पोलैण्ड ने जर्मनी के समक्ष आत्म-समर्पण कर दिया। अब जर्मनी एवं रूस ने इसे आपस में बांट लिया।

(ii) **रूसी प्रसार :** अपनी सुरक्षा हेतु रूस तीन बाल्टिक राज्यों यथा-इस्तोनिया, लाटविया एवं लिथुआनिया पर प्रभाव स्थापित करना चाहता था। इस संबंध में सितंबर-अक्टूबर (1939) में इन बाल्टिक देशों एवं सोवियत संघ के बीच पारस्परिक सहयोग की संधि हुई। इस संधि के फलस्वरूप सोवियत संघ को इन तीनों राष्ट्रों में सेना रखने की अनुमति मिल गई। इसके बदले में सोवियत संघ ने इन राष्ट्रों की प्रादेशिक अखंडता को बनाए रखने को पूर्ण आश्वासन दिया। परन्तु फिनलैंड के साथ रूस का संघर्ष हो गया। रूस अपनी सुरक्षा हेतु फिनलैंड पर भी बेहतर नियंत्रण स्थापित करना आवश्यक समझता था। रूस की सैन्य कारवाई के फलस्वरूप आत्मसमर्पण करना पड़ा। इसके पश्चात् होने वाली संधि के अनुसार, रूस को अपनी सुरक्षा से संबंधित सारी सुविधाएं प्राप्त हो गईं।

(iii) **नार्वे एवं डेनमार्क पर जर्मनी का आक्रमण :** जर्मनी मूलतः ब्रिटेन एवं फ्रांस से युद्ध करने के लिए नार्वे एवं डेनमार्क के प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग करना आवश्यक समझता था। समस्या यह थी कि अभी तक परंपरागत रूप से ये देश तटस्थ रहे थे। हिटलर ने अपनी सूझ-बूझ का परिचय देते हुए अप्रैल 1940 में नार्वे एवं डेनमार्क पर आक्रमण कर दिया। अंततः नार्वे एवं डेनमार्क में नात्सी सरकार सत्तासीन हुई।

(iv) **हॉलैण्ड, बेल्जियम एवं लक्जमबर्ग पर जर्मन आक्रमण :** ये तीनों देश तटस्थ थे। परन्तु हिटलर ने इन तीनों देशों पर फ्रांस एवं ब्रिटेन को सहायता पहुंचाने का आरोप लगाया। इन्हीं आरोपों के आधार पर हिटलर ने अत्यंत ही द्रुतगति से इन पर आक्रमण कर इन्हें विजित कर लिया।

(v) **फ्रांस का पतन :** जून, 1940 को जर्मनी एवं इटली ने फ्रांस पर आक्रमण कर दिया। फलतः फ्रांसीसी सत्ता ने इन दोनों के संयुक्त आक्रमण के दबाव में आत्मसमर्पण कर दिया। इसकी परिणाम यह हुई कि नाजी सेना को स्वीट्जरलैण्ड के उत्तर-पश्चिम फ्रांस के संपूर्ण भू-भाग पर नियंत्रण स्थापित करने का अधिकार मिला। इतना ही नहीं फ्रांसीसी सेनाओं का निःशस्त्रीकरण कर दिया गया। इस आक्रमण से इटली को भी लाभ तथा फ्रांस के कुछ भू-भाग इसे प्राप्त हो गये। जर्मनी के इस फ्रांसीसी विजय के फलस्वरूप ब्रिटेन में खलबली मच गई। इस स्थिति में ब्रिटिश सरकार ने जनरल दी गॉल के नेतृत्व में गठित फ्रांसीसी सरकार को शीघ्र ही मान्यता दे दी और अब इसी नवगठित फ्रांसीसी सरकार ने फ्रांस के प्रतिनिधि के रूप में धुरी राष्ट्रों का सामना किया।



- (vi) **ब्रिटेन पर जर्मनी का आक्रमण** : फ्रांस के आत्मसमर्पण के पश्चात स्वाभाविक रूप से ब्रिटेन की कठिनाइयाँ बढ़ गईं। इसका कारण एक तो यह था कि फ्रांसीसी युद्ध साम्रगी जर्मनी के हाथों में आ रही थी, एवं इस युद्ध साम्रगी का प्रयोग ब्रिटेन के विरुद्ध होने की संभावना बढ़ गई थी। साथ ही, अमेरिका भी यूरोपीय तटस्थ देशों पर जर्मनी के आक्रमण से संशुभित हो गया था। अतः इस भय की स्थिति में अमेरिका ने ब्रिटेन को सहायता देनी शुरू कर दी। एक और महत्वपूर्ण बात जो सामने आई वह यह थी कि जर्मनी से पराजित होकर यूरोपीय देशों की सरकारें ब्रिटेन में जाकर जर्मनी के विरुद्ध अपने देशवासियों को भड़काती रहती थीं। यही कारण था कि हिटलर ब्रिटेन के इन कृत्यों से रूष था। अंततः हिटलर ने ब्रिटेन पर आक्रमण कर दिया, (जुलाई, 1940) परन्तु प्रबल ब्रिटिश प्रतिरोध के कारण ही हिटलर ने पूर्वी यूरोप पर अधिकार करने की यथेष्ट कोशिश की।
- (vii) **नई यूरोपीय व्यवस्था** : सोवियत संघ पर हिटलर के आसन्न आक्रमण की योजना की एक कड़ी के रूप में इटली एवं जापान के साथ एक त्रिदलीय समझौता हुआ। इस समझौते की मूल बातों के मूल में थी कि इन तीनों देशों ने अपने-अपने क्षेत्रों में एक-दूसरे का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया। यही व्यवस्था यूरोप की नई व्यवस्था के नाम से प्रसिद्ध है। कालान्तर में इस व्यवस्था को बुल्गारिया, रूमानिया एवं यूगोस्लाविया को भी मानते हेतु बाध्य किया। अंततः हिटलर ने यूनान को विजित कर जर्मन साम्राज्य में शामिल कर लिया।
- (viii) **पश्चिमी एशिया में युद्ध** : प्राकृतिक संसाधन विशेष रूप से पेट्रोलियम पदार्थों से संपन्न पश्चिमी एशियाई क्षेत्र दोनों गुटों यथा मित्र राष्ट्र एवं धुरी राष्ट्र दोनों के लिए थे। जर्मनी एवं इटली ये दोनों देश तेल की आवश्यकता हेतु मूल रूप से इस क्षेत्र की ओर आकर्षित हुए थे जबकि ब्रिटेन हेतु स्वेज नहर का महत्व जीवन रेखा के समान था। संयोगवश जर्मनी ने इराक में ब्रिटिश समर्थक सरकार को पदच्युत कर जर्मन समर्थन सरकार स्थापित की। इसकी प्रतिक्रिया के रूप में ब्रिटिश सरकार ने सैन्य कार्रवाई कर इराक में पुनः ब्रिटिश समर्थक सरकार कायम की। इस घटना के पश्चात् ब्रिटेन ने पश्चिमी एशिया के विस्तृत भू-भाग के अंतर्गत फिलिस्तीन, ट्रांसजॉर्डन, इराक, सीरिया तथा लेबनान पर प्रभुत्व कायम कर लिया।
- (ix) **रूस-जर्मनी संबंध** : यद्यपि अगस्त, 1939 को हुए मास्को संधि के तहत रूस एवं जर्मनी एक-दूसरे के नजदीक आए, परन्तु रूस इस स्थिति से वाफिक था। कि जर्मनी का मूल उद्देश्य साम्यवादी सोवियत संघ का समूल नष्ट करना है। परन्तु दाव-पेंच के बीच में सोवियत संघ एवं जापान के मध्य एक अनाक्रमण संधि हुई। संशय की इस स्थिति में जर्मनी ने रूस पर आक्रमण कर दिया। जर्मनी एवं रूस के मध्य होने वाले इस युद्ध को हिटलर ने 'धर्मयुद्ध' की संज्ञा दी। इस युद्ध में इटली, रूमानिया, चेकोस्लोवाकिया आदि देश रूस के विरुद्ध शामिल हो गए। परन्तु सोवियत रूस ने दृढ़ता पूर्वक जर्मन आक्रमण का सामना किया। सोवियत रूस को इस गंभीर संकट से निजात दिलाने हेतु ब्रिटेन एवं अमेरिका तैयार हुआ तथा रूस की सहायता हेतु ब्लाडीवोस्तक एवं फ्रांस के रास्ते का उपयोग करने की बात तय हुई। इस समय फ्रांस पर जर्मन प्रभाव कायम था। अतः स्थिति में ब्रिटेन एवं रूसी सेना ने मिलकर फ्रांस पर आक्रमण किया और अंततः उस पर अधिकार कर लिया। जर्मनी की सेना भी मास्को तक पहुंच गयी परन्तु रूसियों के आत्मविश्वास, जबरदस्त ठंड का वातावरण एवं अमेरिकी सहायता के परिणामस्वरूप जर्मन सेना पीछे हटने को बाध्य हो गई।
- (x) **पूर्वी एशियाई क्षेत्र में युद्ध** : इस क्षेत्र में युद्ध जापान एवं अमेरिका से संबंधित था। जापान द्वारा पूर्वी प्रशांत महासागरीय क्षेत्र में स्थित पर्ल हार्बर (अमेरिका नौ सैनिक अड्डा) पर आक्रमण कर दिए जाने के परिणामस्वरूप इस क्षेत्र में युद्ध का आगाज हुआ। जापानी हमले के परिणामस्वरूप पर्ल हार्बर क्षेत्र के अनेक युद्धपोत नष्ट कर दिए गए। जापानी सेना अत्यंत ही तीव्र गति से सिंगापुर, हांगकांग, मलाया, बर्मा आदि पर अधिकार करते हुए बंगाल की खाड़ी तक पहुंच गई। जापानियों को इन प्रारंभिक उपलब्धियों के प्रतिक्रियास्वरूप अमेरिकी सेना ने भी कोरल एवं मिडवे द्वीप के युद्ध में जापानियों को पराजित किया।
- (xi) **स्टालिनग्राड का युद्ध** : स्टालिनग्राड पर अधिकार स्थापित करने के उद्देश्य से हिटलर ने 1942 में इस क्षेत्र पर आक्रमण किया परन्तु सोवियत प्रतिरोध के कारण उसे आत्मसमर्पण करना पड़ा और जर्मन सैनिकों को भारी तबाही का सामना करना पड़ा। इतना ही नहीं, स्टालिनग्राड के युद्ध में सोवियत संघ की इस

सफलता के फलस्वरूप सोवियत संघ ने बाल्टिक क्षेत्र को नाजी अधिपत्य से मुक्त करते हुए बर्लिन पर कब्जा कर लिया। इस दुःखद स्थिति में हिटलर ने बर्लिन के एक बंकर में आत्महत्या कर ली।



(xii) **पश्चिमी मोर्चा** : यह विचार मूल रूप से स्टालिन का था। जब रूस पर जर्मनी का आक्रमण हुआ तो एक नए मोर्चे के रूप में पश्चिमी मोर्चा खोलने की आवश्यकता अनिवार्य हो गई। पूर्वी मोर्चे पर मित्रराष्ट्रों को जर्मनी की तरफ से जबर्दस्त दबाव पड़ रहा था। इस पश्चिमी मोर्चे ने मित्रराष्ट्रों को मजबूत आधार प्रदान किया, क्योंकि इस मोर्चे के कारण जर्मनी को पश्चिमी मोर्चे पर भी मित्रराष्ट्रों का सामना करना पड़ा। पूर्वी एवं पश्चिमी दोनों मोर्चे से बर्लिन पर आक्रमण किया गया। फलतः 2 मई, 1945 को जर्मनी को आत्मसमर्पण करना पड़ा। इधर जापान पर भी मित्रराष्ट्रों का दबाव बढ़ने लगा। 6 अगस्त एवं 9 अगस्त 1945 को जापान के दो शहरों क्रमशः हिरोशिमा एवं नागासाकी पर अमेरिका द्वारा परमाणु बम गिरा गए। इस घटना के फलस्वरूप जापान ने आत्मसमर्पण कर दिया।

अंततः हम कह सकते हैं कि हिटलर एवं मुसोलिनी की आक्रामकता, जापान की साम्राज्यवादी प्रवृत्ति आदि के परिणामस्वरूप द्वितीय विश्वयुद्ध का प्रारंभ 1 सितंबर, 1939 को हुआ, जिसकी समाप्ति 2 सितंबर, 1945 को जापान के आत्मसमर्पण के साथ हुई। यह एक भयंकर युद्ध था, जिसमें पहली बार परमाणु बम का उपयोग किया गया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के परिणाम (Consequences of second world war)

तुलनात्मक रूप से द्वितीय विश्वयुद्ध का परिणाम प्रथम विश्वयुद्ध से विस्तार एवं तीव्रता में अधिक व्यापक था। इस विश्वयुद्ध में भयंकर नरसंहारक हथियारों के रूप में परमाणु बम के प्रयोग ने तो एक तरह से मानव जीवन के अस्तित्व को ही खतरे में डाल दिया। इस युद्ध के पश्चात् अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में यूरोपीय शक्तियों का अवमूल्यन हो गया तथा अब विश्व शांति के प्रमुख नायक के रूप में संयुक्त राज्य अमेरिका का अस्तित्व कायम हुआ।

एक और भी नई बात सामने आई-युद्धोपरांत विश्व स्पष्ट से दो भागों में विभाजित हो गया एवं शीतयुद्ध की पृष्ठभूमि तैयार हुई। गुटबंदी की इस स्थिति में नवस्वतंत्र तृतीय विश्व के देशों ने गुटनिरेपक्ष आंदोलन को जन्म दिया। अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं विकास को बढ़ावा देने हेतु अंतर्राष्ट्रीय संगठन के रूप में संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी संस्था अस्तित्व में आई।

इस युद्ध के कई गंभीर परिणाम सामने आए जिसे निम्नलिखित रूप में देखा जा सकता है-

- (i) इस युद्ध के पश्चात् औपनिवेशिक साम्राज्यों का अन्त हो गया। विश्वयुद्ध में साम्राज्यवादी एवं उपनिवेशवादी शक्तियां कमजोर पड़ गईं। फलतः उनके उपनिवेशों में स्वतंत्रता आंदोलन ने जोर पकड़ लिया। ब्रिटेन ने अपनी विदेश नीति में परिवर्तन कर भारत, पाकिस्तान, बर्मा, मिस्त्र सहित अफ्रीका के कुछ देशों को स्वतंत्र कर दिया। फ्रांस ने भी हिंदचीन में अपने उपनिवेशों का अंत कर दिया। कंबोडिया, लाओस एवं वियतनाम जैसे देश स्वतंत्र हो गए। इसी तरह हॉलैंड ने भी अपने उपनिवेश को स्वतंत्र घोषित किया एवं हिंदेशिया नामक संघ अस्तित्व में आया, जिसमें जावा, सुमात्रा, बोर्नियो आदि द्वीप शामिल थे। अतः हम कह सकते हैं कि एशिया के पुनरोत्थान की यह घटना परमाणु बम से भी अधिक विस्फोटक थी।
- (ii) युद्धोपरान्त ग्रेट ब्रिटेन का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया एवं अब वह विश्व नेता नहीं रह सका। अब सर्वत्र अमेरिका एवं रूस जैसे देशों ने अंतर्राष्ट्रीय जगत को नेतृत्व प्रदान किया। इस तरह द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् राजनैतिक एवं आर्थिक दृष्टि से यूरोप का महत्त्व कम हो गया। युद्धकाल में अमेरिकी औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि हुई थी और उसने विश्व के अनेक देशों को कर्ज दिया था। समृद्ध आर्थिक स्थिति के कारण उसकी सैन्य शक्ति में भी अभूतपूर्व वृद्धि हुई। इसी क्रम में परमाणु बम का विकास हुआ एवं विश्व के अनेक भागों में मजबूत नौसैनिक अड्डे स्थापित हुए। इसी तरह एक अन्य शक्ति सोवियत संघ को भी अस्तित्व कायम हुआ। युद्ध पश्चात् अंतर्राष्ट्रीय रंगमंच पर अमेरिका एवं सोवियत रूस के रूप में जो दो महाशक्तियां उदित हुई वे दोनों अलग-अलग विचाराधाराओं का प्रतिनिधित्व करती थीं। एक तरफ अमेरिका पूंजीवादी व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करता था, वहीं सोवियत रूस साम्यवादी विचारों का। इन अलग-अलग विचाराधारा वाले देशों के मध्य विभिन्न मुद्दों पर पर्याप्त मतभेद थे। यद्यपि इन दोनों के बीच मतभेद इतने चरम पर था कि युद्ध न होते हुए भी तनाव वैमनस्य के रूप में आरोप-प्रत्यारोप और परस्पर विरोधी



राजनीतिक प्रचार का संघर्ष आरंभ हुआ। यह संघर्ष आमतौर पर 'शीतयुद्ध' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सोवियत संघ के नेतृत्व में साम्यवाद के प्रसार से संबंधित मुद्दों पर पूर्वी जर्मनी, हंगरी, रूमानिया, लिथुआनिया आदि देशों का एक पृथक गुट बन गया। इस तरह समाजवादी प्रभाव में पूर्वी यूरोप का एक सोवियत समर्थक गुट बना, जबकि दूसरी तरफ पश्चिमी गुट के रूप में पूंजीवादी समर्थक देशों का एक गुट बना। अतः तथ्यों के आधार पर हम कह सकते हैं कि संपूर्ण यूरोप दो गुटों में बंट गया तथा ये दोनों गुट अमेरिकी एवं रूस के दिशा-निर्देशों से संचालित होने लगे।

- (iii) 1945 में होने वाले माल्टा सम्मेलन के निर्णय के अनुसार, जर्मनी को चार भागों में विभाजित कर उसे अमेरिका, रूस, ब्रिटेन एवं फ्रांस के अधिकार क्षेत्र में शामिल कर दिया गया। यह व्यवस्था मूल रूप से जर्मनी को जनतांत्रिक स्वरूप प्रदान करते हेतु प्रदान की गयी। इस व्यवस्था ने 1949 में एक नवीन रूप धारण कर लिया जब अमेरिका, ब्रिटेन एवं फ्रांस के अधीन जर्मन क्षेत्र पश्चिमी जर्मनी के रूप में संगठित हुए। इस पश्चिमी जर्मन क्षेत्र में "जर्मन संघीय गणराज्य" स्थापित हुआ। इसी तरह अक्टूबर, 1949 को सोवियत संघ के प्रभाव वाले जर्मन क्षेत्र पूर्वी जर्मनी के रूप में संगठित हुए। पूर्वी जर्मनी का यह क्षेत्र "जर्मन जनतांत्रिक संघ" के नाम से प्रसिद्ध हुआ।
- (iv) द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् विश्व शांति की स्थापना एवं विकास कार्यों में तेजी लाने के उद्देश्य से एक अंतर्राष्ट्रीय संस्था के रूप में संयुक्त राष्ट्र संघ अस्तित्व में आया। 1945 में सैन फ्रांसिस्को नामक सम्मेलन में इस अंतर्राष्ट्रीय संस्था की स्थापना की गई। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा की गई मानवाधिकारों की प्रसिद्ध घोषणा के फलस्वरूप मानवाधिकार के युग की शुरुआत हुई।
- (v) द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् कई प्रादेशिक संगठनों का विकास हुआ जैसे-साम्यवाद के प्रसार को रोकने हेतु शुरुआत हुई। अमेरिका के नेतृत्व में नाटो सेंटो, सिएटो, बगदाद पैक्ट आदि जैसे सुरक्षात्मक संगठनों की स्थापना की। इसी तरह सोवियत संघ ने 'वारसा पैक्ट' नामक सुरक्षात्मक संगठनों की स्थापना की। इन विभिन्न प्रादेशिक संगठनों की स्थापना के फलस्वरूप अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सैन्यवाद एवं शस्त्रीकरण की होड़ में तीव्र वृद्धि हुई तथा भय एवं तनाव का माहौल भी उत्पन्न हुआ।
- (vi) द्वितीय विश्वयुद्ध के क्रम में जापानी सैन्य बलों ने दक्षिण-पूर्व एशिया में अंग्रेजी फौज के जिन भारतीय सैनिकों को युद्धबन्दी बनाया था उन्हें सुभाष चन्द्र बोस जैसे महान स्वतंत्रता सेनानी से संगठित कर 'आजाद हिन्द फौज' नामक प्रसिद्ध दस्ते का निर्माण किया था। आजादा हिन्द फौज की सहायता से भारत में ब्रिटिश सत्ता को कड़ी चुनौती दी गई थी। अतः द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् भारत में भी व्यापक हलचल देखी गई। जिसके परिणामस्वरूप भारत की स्वतंत्रता संभव हो पाई।
- (vii) द्वितीय विश्वयुद्ध के फलस्वरूप राष्ट्रवादियों एवं कम्युनिस्टों के मध्य तनाव एवं संघर्ष तीव्र हो गया। इस संबंध में हम कह सकते हैं कि जापान द्वारा आत्मसमर्पण के पश्चात् कम्युनिस्टों ने माओत्से तुंग के नेतृत्व में चीनी सत्ता पर नियंत्रण कर लिया।
- (viii) द्वितीय विश्वयुद्ध के परिणामस्वरूप इजरायल का निर्माण एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् यहूदियों ने फिलिस्तीन में बसना आरंभ किया। संसार के विभिन्न क्षेत्रों से सारी संख्या में यहूदियों का आगमन इन क्षेत्रों में हुआ। इस क्षेत्र में यहूदियों के आगमन ने नई समस्याओं को जन्म दिया। अरबों एवं यहूदियों के बीच व्यापक दंगे होने लगे। इतना ही नहीं ब्रिटेन एवं अमेरिका के समर्थक से 1940 में इजरायल नाम से फिलिस्तीन में यहूदियों का राज्य कायम हो गया उसी समय से इजरायल एवं अरबों के मध्य तनाव एवं संघर्ष का अनवरत सिलसिला शुरू हुआ।
- (ix) द्वितीय विश्वयुद्ध के क्रम में सामरिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण वैज्ञानिक एवं तकनीकी खोज को पर्याप्त बढ़ावा मिला। विज्ञान के क्षेत्र में होने वाले इस आशातीत प्रगति के रूप में जेट विमान, रडार, रेडियो, टेलीविजन आदि जैसे साधनों के विकास को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। इन क्षेत्रों में व्यापक पूंजी निवेश किया गया। युद्धकाल में प्लास्टिक, रेयान, हल्की मिश्र धातु, चमत्कारिक औषधियां आदि जैसे कृत्रिम पदार्थों का निर्माण महान उपलब्धियों कही जा सकती है।



9. फासीवाद और नाजीवाद (Fascism and Nazism)



जब 1917 की बोलशेविक क्रांति की सफलता के बाद रूस में साम्यवादी सत्ता की स्थापना हो रही थी उसी समय इटली में फासीवाद तथा जर्मनी में नाजीवाद का आविर्भाव हो रहा था। अधिनायकतंत्र पर आधारित फासीवादी एवं नाजीवादी विचारधाराएं स्वरूप एवं प्रकृति में साम्यवाद विरोधी थीं तथा इसमें जनता की स्वतंत्रता, समानता एवं अधिकारों का लेशमात्र भी सम्मान नहीं था।

इटली में फासीवाद और मुसोलिनी (Fascism in Italy and Mussolini)

प्रादेशिक लाभ के प्रलोभन में पड़कर इटली ने प्रथम विश्वयुद्ध में मित्रराष्ट्रों का पक्ष लेकर प्रवेश किया था। इस संबंध में 1915 की लंदन की गुप्त संधि के तहत इटली को व्यापक प्रादेशिक लाभ का वचन मित्रराष्ट्रों द्वारा दिया गया था। परन्तु, युद्ध समाप्ति के बाद हुए पेरिस सम्मेलन में इटली को सम्मानित स्थान नहीं मिल पाया। इटली की जनता इस विजय से प्रसन्न नहीं थी। वर्साय की संधि से इटली अपना इच्छित प्रादेशिक भू-भाग प्राप्त नहीं कर सका। उसे दक्षिणी टिरोल, ट्रेण्टिनो एवं डाल्मेशियन तट के कुछ भू-भाग के अतिरिक्त कुछ भी नहीं मिला। इटली की बाल्कन क्षेत्र तथा अफ्रीका में साम्राज्य विस्तार की आकांक्षा पूर्ण न हो सकी। इटली में सर्वाधिक असंतोष का कारण था- फ्यूम बंदरगाह की प्राप्ति न हो पाना। इटली के नेता निराशा एवं क्षोभ की भावना लेकर ही पेरिस से वापस लौटे। युद्ध के कारण हुए अपरिमित आर्थिक क्षति ने भी इटली की अर्थव्यवस्था की कमर तोड़ दी। एक घोर आर्थिक संकट उत्पन्न हो गया था। विदेशी कर्ज के कारण इटली की अर्थव्यवस्था चरमरा गई। देश में उद्योग-धंधे एवं व्यवसाय ठप्प पड़ गए थे और बेकारी की समस्या ने गंभीर रूप धारण कर लिया था। इस विषम परिस्थिति में विभिन्न राजनीतिक दल सक्रिय हो गए। समाजवादियों द्वारा मजदूरों एवं कृषकों को पूंजीपतियों एवं जमींदारों के विरुद्ध भड़काया गया। इटली की तत्कालीन सरकार इस अराजकता वाली स्थिति को नियंत्रित करने में नाकाम हो रही थी। इस परिस्थिति में एक गृह युद्ध की संभावना बन रही थी। चूंकि तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था में उभरते हुए समाजवादी शक्तियों में शासन का कार्यभार संभालने की क्षमता नहीं थी, इसलिए इटली में नेतृत्व के लिए एक नवीन दल का मार्ग प्रशस्त हो गया। शीघ्र ही इटली में राष्ट्रवादियों की शक्ति जोर पकड़ने लगी तथा देश के सभी असंतुष्ट वर्ग उसके झंडे तले एकत्रित होने लगे। इस फासिस्ट शक्ति ने मुसोलिनी के नेतृत्व में एक निश्चित एवं परिपक्व स्वरूप धारण किया।

मुसोलिनी एवं उसकी फासीवादी नीतियां (Mussolini and His Fascist Policies)

एक अध्यापक से उन्नति करके बेनिटो मुसोलिनी इटली का प्रधानमंत्री बना एवं एक नवीन राजनीतिक चिंतन के रूप में फासीवादी विचारधारा को स्थापित किया। मुसोलिनी ने तत्कालीन स्थितियों का लाभ उठाकर इटली में फासी संस्थाओं का निर्माण किया एवं अंत में सम्राट को भयभीत कर 1922 में इटली का प्रधानमंत्री बन गया।

मुसोलिनी का जन्म 1885 में इटली के एक छोटे से गांव में हुआ था। उच्च शिक्षा के लिए वे स्विट्जरलैंड गए। स्विट्जरलैंड में समाजवादियों के विचारों से प्रभावित होकर मुसोलिनी समाजवाद की ओर आकर्षित हुआ। वहां उसने एक मजदूर संघ का गठन एवं हड़ताल का अयोजन कराया। इटली वापस आकर मुसोलिनी ने समाजवादी आंदोलन को प्रोत्साहन दिया। 1912 में प्रसिद्ध 'अवॉर्ति' नामक समाजवादी समाचारपत्र का संपादन किया। परन्तु समाजवाद के इतने बड़े पोषक होने की मुसोलिनी की यह प्रवृत्ति लंबे समय तक कायम नहीं रह सकी। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान मुसोलिनी की समाजवादी विषयक विचारधारा एकदम उलट गई। मुसोलिनी की यह इच्छा थी कि इटली मित्रराष्ट्रों का पक्ष लेकर युद्ध में शामिल हो जाये ताकि विजय की स्थिति में ऑस्ट्रिया के अधीन वाले इटली के प्रदेश प्राप्त हो जाए। प्रथम विश्वयुद्ध में मित्रराष्ट्रों की तरफ से इटली के शामिल होने संबंधी मुसोलिनी का यह विचार साम्यवादियों के विचार से बिल्कुल ही भिन्न था क्योंकि साम्यवादी युद्ध के बिल्कुल विरुद्ध थे। यही कारण था कि मुसोलिनी एवं साम्यवादियों में खटास उत्पन्न हो गया। अब मुसोलिनी घोर राष्ट्रवादी बन गया। 1915 में इटली के युद्ध में

भाग लेने के क्रम में मुसोलिनी सोवियत संघ के साम्यवादी विचारों को इटली के लिए हानिकारक मानता था और इस रूप में वह साम्यवाद का विरोध करता था।

प्रथम विश्वयुद्ध के अंतिम चरण तक आते-आते देश की बिगड़ती आर्थिक स्थिति कानून-व्यवस्था की जर्जर स्थिति, पेरिस शांति सम्मेलन के असंतोषजनक निर्णय एवं साम्यवादी क्रांति के भय के कारण जनता के विभिन्न वर्ग तत्कालीन सरकार के विरोधी हो गए। ऐसी विषम परिस्थिति में मुसोलिनी ने युद्ध समाप्ति के पश्चात् फेसियो-आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग लेना प्रारंभ किया। 1919 में उसने समस्त सैनिकों के नाम एक घोषणा प्रकाशित किया, जिसमें उन्होंने सैनिकों से देश के भविष्य निर्माण में भाग लेने का आह्वान किया। धीरे-धीरे मात्र दो वर्षों के भीतर ही इटली के सभी बड़े-बड़े नगरों एवं औद्योगिक केन्द्रों में फेसियों का नेटवर्क बन गया। इस फेसियों के सदस्य, 'फासिस्ट' एवं इसके सिद्धान्त 'फासिज्म' कहलाए। मुसोलिनी ने अपनी पूरी क्षमता फासिस्ट शक्ति को संगठित करने में लगा दी। फलतः देश में फासिस्ट दल का तीव्र गति से प्रचार एवं प्रसार हुआ। इस दल की लोकप्रियता का एक उदाहरण 1921 के चुनाव में देखने को मिला जब इस पार्टी के 35 सदस्य इटली के संसद हेतु निर्वाचित हुए। अपनी शक्ति में वृद्धि के लिए मुसोलिनी ने 'काली कमीज' नामक स्वयंसेवक दल का गठन किया एवं स्वयं इस संगठन का प्रधान सेनापति बन गया। कुछ ही समय बाद मुसोलिनी का फासिस्ट दल इटली का सर्वाधिक महत्वपूर्ण राजनीतिक दल बन गया। उसने मजबूत स्वयंसेवक सेना के माध्यम से अपने विरोधियों, विशेषकर साम्यवादियों का दमन करना प्रारंभ किया। मारपीट एवं तोड़-फोड़ की राजनीति में विश्वास करने वाले मुसोलिनी इटली की साम्यवादी पार्टी को काफी कमजोर बना दिया। 1922 ई. तक वह इटली का सर्वशक्तिमान व्यक्ति बन गया। इसी वर्ष उसने नेपल्स नगर में एक सभा का आयोजन किया, जिसमें यह घोषणा की कि 27 अक्टूबर से पूर्व शासन सत्ता फासिस्टों के अधीन कर दी जाये अन्यथा रोम पर आक्रमण किया जाएगा। 27 अक्टूबर, 1922 को मुसोलिनी 50 हजार स्वयंसेवकों के साथ रोम की ओर बढ़ा। फासिस्टों के जबर्दस्त दबाव एवं मुसोलिनी की उग्रता को देखते हुए इटली के राजा विक्टर इमैन्यूएल ने शासन सत्ता मुसोलिनी के हाथों सौंप दिया एवं 30 अक्टूबर को नया मंत्रिमंडल बनाने के लिए आमंत्रित किया। यह प्रसिद्ध घटना 'रोम मुसोलिनी के आक्रमण' के नाम से जाना जाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मुसोलिनी ने सिर्फ प्रदर्शन द्वारा ही अपनी महत्वाकांक्षा को पूर्ण किया एवं इटली के शासन पर अधिकार जमाया।

सरकार पर फासीवादियों के कब्जे के पश्चात् इटली में आतंक का राज्य कायम हो गया। उभरते हुए समाजवादी आंदोलन को कुचल दिया गया एवं अनेक समाजवादी एवं कम्युनिस्ट जेल में डाल दिए गए। इटली पर एकछत्र राज्य स्थापित करने के लिए 1926 में फासिस्ट पार्टी को छोड़कर शेष सभी पार्टियों पर प्रतिबंध लगा दिया गया। यद्यपि यह बात सत्य है कि इटली की तत्कालीन स्थिति में फासिस्ट पार्टी ने देश हित में कई महत्वपूर्ण निर्णय लिए। परन्तु इसमें कोई दो राय नहीं कि इस पार्टी की ज्यादतियों के कारण लोकतंत्र नष्ट हो गया एवं न सिर्फ समाजवादियों का दमन किया गया बल्कि युद्ध की तैयारियां भी आरंभ हो गईं। फासीवादियों का वह पूर्ण विश्वास था कि दो या दो से अधिक देशों के मध्य मेलमिलाप रह पाना संभव नहीं है। उसका यह प्रसिद्ध विचार था कि युद्ध मनुष्य को महान बनाता है। इस विचार ने स्पष्ट रूप से विस्तारवादी नीति को प्रश्रय दिया। इस तरह मुसोलिनी इटली का भाग्य विधाता बन गया और प्रजातंत्र को दफनाकर उसकी कब्र पर एक तानाशाही ढांचा खड़ा किया।

मुसोलिनी की सफलता के कारण (Causes of Success of Mussolini)

मुसोलिनी के उत्थान में उसके व्यक्तिगत तथा उन परिस्थितियों का सम्मिलित योगदान रहा जिसमें फासिस्ट शक्ति इटली की सर्वोच्च शक्ति बन गई एवं मुसोलिनी सत्ता के सर्वोच्च पद पर जा पहुंचा। मुसोलिनी की सफलताओं के कारणों को हम निम्नलिखित बिंदुओं के अन्तर्गत देख सकते हैं-

- (i) **वर्साय की संधि एवं इटली के साथ विश्वासघात** - प्रथम विश्वयुद्ध में इटली ने मित्रराष्ट्रों का पक्ष लेते हुए अपनी भागीदारी दर्ज की। इस संबंध में मित्रराष्ट्रों द्वारा इटली से कई वादे किए गए थे, जिसमें विजयोपरान्त इटली को विभिन्न प्रादेशिक लाभ मिलने संबंधी वादा प्रमुख था। प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद इटली ने अपने को विजेताओं की श्रेणी में खड़ा पाया और साथ ही वर्साय संधि के सूत्रधारों में से एक सदस्य इटली के प्रधानमंत्री औरलैंडो को शामिल किया गया। लेकिन इटली को विशेष सम्मानित



स्थान का दर्जा नहीं मिल पाया और उसके साम्राज्य विस्तार की लालसा पर पानी फिर गया। जब इटलीवासियों को पता चला कि विजय के बावजूद भी इटली की दुर्बल व अकर्मण्य नीति के कारण इटली विशेष लाभप्रद स्थिति में नहीं रहा, तो इटली की जनता में घोर निराशा का संचार हुआ। इसी परिस्थिति में मुसोलिनी का जोशीला व्यक्तित्व सामने आया।



(ii) **राष्ट्रवादियों में असंतोष** – इटली की तत्कालीन सरकार की अकर्मण्यता का ही प्रतिफल था कि इटलीवासियों में सरकार के प्रति तीव्र असंतोष था। ऐसी विषम परिस्थिति में राष्ट्रवादी शक्तियों द्वारा फ्यूम पर अधिकार कर अपनी स्वतंत्र सरकार की स्थापना कर ली गई। इन कृत्यों से संपूर्ण इटली में घोर अराजकता का वातावरण बन गया।

(iii) **पूंजीवादी वर्ग का समर्थन** – फांसीवादी शांतिपूर्ण औद्योगिक विकास का पक्षधर था। प्रथम विश्वयुद्ध काल में फैली अव्यवस्था, दयनीय आर्थिक स्थिति, पूंजीपति वर्गों-उद्योगपतियों एवं जमींदारों की संपत्ति पर समाजवादी आंदोलन से उत्पन्न संकट आदि कुछ ऐसे तत्त्व थे जिससे पूंजीपति वर्ग भयभीत थे। इसी आधार पर मुसोलिनी इस वर्ग का समर्थन पाकर अपनी स्थिति मजबूत करना चाहता था। मुसोलिनी ने हड़तालों का तीव्र विरोध किया एवं देश में एक मजबूत सरकार देकर उपनिवेशों की स्थापना से संबंधित विकल्प रखा। इस आदर्श वातावरण की योजना से वहां के पूंजीपतिवर्ग विशेष रूप से प्रभावित हुए एवं मुसोलिनी को बढ़-चढ़कर समर्थन दिया।

(iv) **युद्धोत्तरकालीन आर्थिक दुर्दशा** – प्रथम विश्वयुद्ध में इटली को व्यापक धन-जन की हानि हुई। युद्ध में हुए खर्च की पूर्ति हेतु इटली पर विदेशी ऋण बहुत ज्यादा बढ़ गया। युद्ध के इस वातावरण में उद्योग एवं व्यापार पर विपरीत प्रभाव पड़ा। मुद्रास्फाटि तथा बेकारी जैसी समस्या उत्पन्न हो गई। मजदूर, किसान, सैनिक सभी वर्गों में तत्कालीन परिस्थिति के प्रति तीव्र रोष था। असंतोष एवं रोष के इसी वातावरण में इटली में फासिस्ट शक्तियों ने गहरी पैठ बना ली।

मुसोलिनी की गृह एवं विदेश नीति (Domestic and Foreign Policies of Mussolini)

1922 में सत्ता प्राप्त करने के बाद मुसोलिनी ने इटली की आंतरिक दशा में सुधार आरंभ किया। युद्ध ऋण अदा किया तथा इटालवी मुद्रा-लीरा को अवमूल्यन से बचाकर अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ किया। उसने उत्पादन, मजदूरी तथा मूल्य निर्धारण संबंधी विषयों पर राज्य का नियंत्रण स्थापित किया। 1932 में उसने देश की आर्थिक समस्या का निराकरण करने के लिए एक 'बोर्ड' की स्थापना की, जिसकी अनुमति से ही कोई भी उद्योग स्थापित हो सकता था। उद्योगों की स्थापना हेतु ऋण की व्यवस्था, मजदूर-कृषक कल्याण से संबंधित विभिन्न योजनाएं, विनिर्माण एवं कृषि उत्पादन में वृद्धि के सार्थक प्रयास कुछ ऐसे कदम थे, जिससे इटली की अर्थव्यवस्था सुदृढ़ हुई। विदेशी व्यापार को बढ़ावा देने की भी यथेष्ट कोशिश की गई। यातायात के साधनों के रूप में जल, थल एवं वायुमार्ग के विकास को बढ़ावा दिया गया। मुसोलिनी का एक महान कदम था- पोप से मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित किया जाना 1871 ई. में रोम पर विक्टर इमैनुएल द्वितीय का अधिकार हो जाने से वेटिकन स्थिति पोप की स्थिति अत्यंत कमजोर हो गई। इससे विश्व की ईसाई जनता रूष्ट हो गई थी। शासन की बागडोर संभालते ही मुसोलिनी ने इस विकट समस्या का हल करने के लिए पोप से संधि की। संधि के अनुसार पोप का रोम से अधिकार समाप्त हो गया एवं उसने रोम को इटली की राजधानी स्वीकार की जबकि मुसोलिनी ने पोप को वेटिकन का सार्वभौम शासक स्वीकार किया।

मुसोलिनी ने देश हित में विदेश नीति का निर्धारण किया एवं तत्कालीन राजनीतिक परिदृश्य में इटली को एक सम्मानित राष्ट्र का दर्जा दिलाने की हरसंभव कोशिश की। प्रथम विश्वयुद्ध में मित्रराष्ट्रों की ओर से इटली युद्ध में शामिल हुआ लेकिन पेरिस शांति सम्मेलन में उसकी उपेक्षा की गई। यह उपेक्षा मूलतः इटली की सैन्य निर्बलता का प्रतिफल था। पेरिस शांति सम्मेलन में उपेक्षा के इन्हीं कारणों को मुसोलिनी ने रेखांकित किया। उसने इटली की सैन्य शक्ति में वृद्धि हेतु जोरदार पहल की। फांसीवादी सिद्धान्त पर आधारित मुसोलिनी की विदेश नीति युद्ध को आवश्यक जबकि शांति को 'युद्ध विराम' मानता था।

मुसोलिनी साम्राज्यवादी नीति में विश्वास करता था। अतः यह स्वाभाविक ही था कि साम्राज्यवादी नीतियों को लागू करने हेतु कूटनीतिक दांव-पेंच के द्वारा मित्रों की सद्भावना प्राप्त किया जाये। इस संबंध में 1933 में जर्मनी में हिटलर के चांसलर बनने का समाचार मुसोलिनी को इटली के लिए खतरा प्रतीत हो रहा था।

हिटलर ऑस्ट्रिया को जर्मनी में मिलाना चाहता था, जिससे इटली को वर्साय की संधि से प्राप्त टाइरल क्षेत्र खतरे में पड़ जाता। हिटलर को ऑस्ट्रिया पर अधिकार करने से रोकने के लिए मुसोलिनी ऑस्ट्रिया के नाजी विरोधियों की सहायता करने लगा। इस समय मुसोलिनी की विदेश नीति अवसरवादी हो गई। अबीसिनिया पर किए गए आक्रमण के फलस्वरूप हिटलर के साथ उसका मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित हुआ। इंग्लैंड एवं फ्रांस ने इस आक्रमण की निंदा की। इस स्थिति में मुसोलिनी ने राष्ट्रसंघ से इटली का संबंध तोड़ लिया। इस विषय पर परिस्थिति में मुसोलिनी ने 1936 में 'रोम-बर्लिन धुरी' नामक प्रसिद्ध संधि की। 1937 में इटली उस प्रसिद्ध संधि में भी शामिल हो गया जो जर्मनी एवं जापान के बीच 1936 में रूस के विरुद्ध किया गया था। इन संधियों के परिणामस्वरूप 'टोकियो-रोम-बर्लिन धुरी' आस्तित्व में आई और द्वितीय विश्वयुद्ध में यही शक्तियां एक-साथ लड़ीं।



पेरिस शांति सम्मेलन में लिए गए महत्वपूर्ण निर्णयों के तहत मित्रराष्ट्रों ने रोड्स एवं डोडीकानीज जैसे भूमध्यसागरीय द्वीपों को इटली से लेकर यूनान को दे दिया था। इस व्यवस्था को इटली के लिए अपमान समझकर मुसोलिनी ने 1923 में इन द्वीपों पर अधिकार कर उसकी किलेबन्दी की। इन भूमध्यसागरीय द्वीपों पर कब्जा करने के बाद मुसोलिनी ने अल्बानिया पर अधिकार कर लिया। गौरतलब है कि पेरिस शांति-सम्मेलन में इटली ने अल्बानिया की मांग की थी परन्तु उसकी ये मांगें स्वीकार नहीं की गईं एवं अल्बानिया ने एक स्वतंत्र राष्ट्र का दर्जा पा लिया। सत्ता में आते ही मुसोलिनी ने इस स्वतंत्र राष्ट्र को पाने के लिए सफल प्रयास किया और अंततः इसे इटली साम्राज्य में मिला लिया। 1924 में युगोस्लाविया के साथ हुए संधि से मुसोलिनी को एड्रियाटिक सागर के शीर्ष पर स्थित फ्यूम नगर मिला जबकि युगोस्लाविया को 'फ्यूम नगर' का एक उपक्षेत्र 'पोर्ट बेरोस' प्राप्त हुआ। 1936 ई. में मुसोलिनी ने इथोपिया पर अधिकार कर लिया। अफ्रीकी उपनिवेशों के विभाजन में इटली के साथ अन्याय हुआ था एवं उसी अन्याय के प्रतिशोध में मुसोलिनी ने इथोपिया पर अधिकार किया था। इटली की सरकार ने यह दावा किया कि इथोपिया को सभ्य बनाना उसका 'पवित्र कर्तव्य' है। मुसोलिनी इस बात को अच्छी तरह से जानता था कि इथोपिया पर आक्रमण का इंग्लैंड एवं फ्रांस द्वारा विरोध नहीं किया जाएगा। साथ ही फ्रांस-इटली में हुए संधि के फलस्वरूप औपनिवेशिक मतभेद दूर हो गए जिसे तहत फ्रांस ने लीबिया के वृहत भाग एवं फ्रांसीसी सोमालीलैंड का छोटा भाग इटली को दे दिया था। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मुसोलिनी ने यूरोप एवं एशिया के विभिन्न राष्ट्रों के साथ संधि कर अपनी स्थिति मजबूत कर ली।

जर्मनी में नाजीवाद और हिटलर (Nazism in Germany & Hitler)

जर्मनी में नाजीवादी का उदय दो विश्वयुद्धों के बीच की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटनाओं में से एक है। इस अवधि में नाजीवाद ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में क्रांतिकारी भूमिका अदा की। यह एक आक्रामक विचारधारा थी जिसने समस्त यूरोपीय राजनीति में उथल-पुथल मचा दी। इस विचारधारा को कार्यक्रम, सिद्धांत एवं दर्शन के रूप में स्थापित करने का श्रेय हिटलर को है।

हिटलर का उदय

हिटलर का जन्म 1889 में ऑस्ट्रिया के निम्न मध्यमवर्गीय परिवार में हुआ था। वस्तुकला एवं चित्रकला के प्रति बेहद लगाव के बावजूद हिटलर ने जर्मनी की आर्थिक, सामाजिक, नैतिक एवं जातीय समस्याओं के विषय में गहराई से अध्ययन किया और इसी ज्ञान के आलोक में जर्मन राष्ट्रवाद के प्रति उसका विश्वास दृढ़ होता गया। साथ ही जर्मन समाज एवं राजनीति का यह ज्ञान उसे मार्क्स एवं यहूदी विरोधी बना दिया।

ऑस्ट्रियन होते हुए भी हिटलर प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी की सेना में भर्ती हो गया एवं उसने निष्ठापूर्वक लड़ाई की। पामरेविया के अस्पताल में घायल पड़े हुए हिटलर ने जब वर्साय की अपमानजनक संधि की खबर सुनी तो जर्मन सरकार के प्रति उसका खून खौलने लगा एवं उसने वहीं पर घोषणा कर दी कि जर्मनी की पराजय उसके नेताओं की बुझदिली का परिणाम है। उसने यह दृढ़ संकल्प कर लिया कि जर्मन राजनीति में प्रवेश कर देश का उद्धार करना उसका परम लक्ष्य है।

1919 में हिटलर ने सूचना प्रसारण मंत्रालय में नौकरी कर ली। इससे वह विभिन्न राजनीतिक दलों के संपर्क में आया। इस पद पर रहकर वह साम्यवादियों पर जासूसी करता रहा। इसी सिलसिले में वह एण्टन



ड्रेक्सलर द्वारा स्थापित 'जर्मन वर्कर्स पार्टी' का सदस्य बना। हिटलर के प्रवेश से उस पार्टी की उन्नति दिन दूनी-रात चौगुनी होने लगी। उन्होंने जर्मन वर्कर्स पार्टी का नाम बदलकर एक नई पार्टी के रूप में राष्ट्रीय समाजवादी पार्टी (नाजी पार्टी) का गठन किया। इस पार्टी के कार्यक्रम में 25 बातें शामिल की गई थीं, जो महान शक्ति के रूप में जर्मनी को स्थापित करने से संबंधित थी। इस कार्यक्रम में जो मुख्य बातें घोषित की गई थी उसके अनुसार—

- (i) वर्साय जैसे अपमानजनक संधि को अमान्य घोषित करना
- (ii) विखंडित जर्मनी को एक सूत्र में बांधकर सशक्त जर्मनी का निर्माण किया जाना
- (iii) छीने गए जर्मन उपनिवेश को प्राप्त करना
- (iv) निःशस्त्रीकरण से संबंधित सारे प्रावधानों की अवहेलना करना
- (v) जर्मनी के शत्रु यहूदियों को बाहर निकालना
- (vi) जर्मनी में विदेशियों के प्रवेश पर रोक
- (vii) साम्यवादी विचारधारा के प्रसार पर रोक
- (viii) उदारवाद समर्थक समाचारपत्र के प्रकाशन पर प्रतिबंध आदि।

हिटलर के आकर्षक व्यक्तित्व, जोशीले भाषण एवं संगठन के तरीके से नाजी पार्टी तीव्र गति से उन्नति करती गई। हिटलर स्वयं इस पार्टी का फ्यूरर (नेता) था। जर्मनी की तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन करने के उद्देश्य से हिटलर ने 1923 ई. में ल्यूडेनडर्फ के साथ मिलकर सरकार का तख्ता पलटने की कोशिश की परन्तु वह अपना इस योजन में सफल नहीं हो सका। उसे गिरफ्तार कर लिया गया एवं 5 वर्ष के कारावास का दंड मिला, लेकिन कुछ महीने के बाद ही उसे छोड़ दिया गया। जेल में ही हिटलर ने 'मिन कॉम्फ' नामक आत्मकथा का प्रथम भाग लिखा। इसमें उसने अपनी पार्टी की नीति, भावी कार्यक्रम तथा विकास का सर्वांगीण वर्णन किया है। इसमें उन्होंने आत्मनिर्णय सिद्धान्त के आधार पर जर्मन राज्य के अंतर्गत समस्त जर्मनभाषियों को सम्मिलित करना, जर्मनी की बढ़ती जनसंख्या हेतु प्रवास क्षेत्र का विस्तार करना, जो कि पूर्व की ओर रूस एवं उसके समीपवर्ती राज्य की ओर हो सकता है तथा फ्रांस को जर्मनी के शत्रु के रूप में रेखांकित करने आदि की बात की।

जेल से रिहा होने के पश्चात् उसने 1924 में पार्टी को पुनर्गठित करने की कोशिश की। पार्टी सदस्य भूरे रंग के कपड़े पहनते थे एवं स्वास्तिक इसका चिह्न था। सभी पार्टी सदस्य काले रंग का स्वास्तिक निशाल वाले पट्टा बांह पर बांधते थे। हिटलर ने 'आक्रमण सैनिक' (जैतववउ ज़तववचे) का गठन किया जो प्रारंभ में विभिन्न नाजी सभाओं की रक्षा एवं साम्यवादियों की सभाओं में उपद्रव मचाने जैसे कार्यों से संबद्ध थी। नाजी पार्टी के घोषित कार्यक्रमों को अमल में लाने हेतु हिटलर ने जर्मनी को 26 जिलों में विभाजित किया। और इस रूप में जर्मनी का प्रत्येक क्षेत्र नाजी पार्टी के कार्यक्रमों से अवगत हुआ। यद्यपि हिटलर की नाजी पार्टी जर्मनी के दूरदराज के क्षेत्रों तक अपनी पहुंच बना ली थी परन्तु इसके बावजूद भी 1928 तथा 1930 के चुनावों में नाजी पार्टी का प्रदर्शन अच्छा नहीं रहा। 1932 के चुनावों में नाजी पार्टी मजबूत पार्टी के रूप में सामने आई। इस उपलब्धि के पश्चात् 1933 में राष्ट्रपति हिंडेनबर्ग ने हिटलर को प्रधानमंत्री पद पर सुशोभित किया। प्रधानमंत्री बनने के बाद हिटलर ने एक नेता, एक पार्टी, एक राज्य की नाजी सर्वसत्ता का आदर्श प्रस्तुत किया।

हिटलर के उदय के कारण (Causes of Rising of Hitler)

- (i) **वर्साय की आरोपित, कठोर एवं अपमानजनक संधि** — 1919 में संपन्न वर्साय की संधि से जर्मनी को अपार प्रदेशिक क्षति हुई। निःशस्त्रीकरण एवं भारी मात्रा में क्षतिपूर्ति की रकम की अदायगी जैसे आरोपित शर्तों के कारण समस्त जर्मन जनता अपमानित महसूस करने लगी। वास्तव में यह एक ऐसी स्थिति थी जिसमें सभी जर्मन जनता को एक ऐसे नेता की आवश्यकता महसूस हो रही थी जो जर्मनी को इस अपमान से मुक्ति दिला सके, अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा दिला सके एवं एक सशक्त राष्ट्र के रूप में जर्मनी को स्थापित कर सके। जर्मनी की सभी आशाएं हिटलर जैसा व्यक्ति ही पूरा कर सकता था, जिसमें अदम्य साहस, उत्साह एवं राष्ट्र प्रेम की भावना थी। हालांकि संधि के चौदह वर्ष बाद 1933 में नाजी दल को सत्ता की प्राप्ति हुई एवं हिटलर जर्मनी का प्रधानमंत्री बना। इन चौदह वर्षों की अवधि में वर्साय की संधि के कई



कठोर शर्तों में परिवर्तन आ चुका था, जैसे लोकार्नो संधि के फलस्वरूप 1925 में जर्मनी राष्ट्र संघ का सदस्य बना, लोजान व्यवस्था के तहत क्षतिपूर्ति की रकम कम कर दी गई एवं निःशस्त्रीकरण में ढील दी गई। यही वे तीन मूल तत्व भी थे जिससे जर्मनी विशेष रूप से आहत हुआ था। लेकिन हम यह कह सकते हैं कि वर्साय की संधि के बाद देश में फैली अव्यवस्था एवं अराजकता की स्थिति ने निश्चित रूप से नाजी पार्टी को अपनी जड़ें मजबूत बनाने का अवसर दिया तथा वर्साय संधि की इन कठोर शर्तों का हिटलर ने भरपूर उपयोग किया।

- (ii) **कमजोर आर्थिक स्थिति** – वैसे तो 1929 की विश्वव्यापी आर्थिक मंदी से लगभग संपूर्ण विश्व की अर्थव्यवस्था चौपट हो गई थी, परन्तु जर्मनी पर इस आर्थिक संकट का ज्यादा नकारात्मक प्रभाव पड़ा था। क्षतिपूर्ति की असहनीय भार से अर्थव्यवस्था गर्त में चली गई थी। क्षतिपूर्ति की इस रकम को पूरा करने के लिए जर्मनी ने अमेरिका से भारी मात्रा में कर्ज लिया था अर्थात् जर्मनी कर्ज के भार से भी दबा हुआ था। बेरोजगारी, बीमारी, कुपोषण तथा जनता की क्रयशक्ति में कमी जैसे निर्णायक कारकों से तत्कालीन शासन प्रणाली से आम जनता का मोह भंग हो गया। इस परिस्थिति में हिटलर ने इन सभी समस्याओं के निराकरण का आश्वासन दिया और इस आधार पर उसे जर्मन जनता का व्यापक समर्थन मिला।

- (iii) **साम्यवादी खतरा** – हिटलर के उदय में साम्यवाद के संभावित खतरे का भी विशेष योगदान रहा। 1917 की रूसी बोलशेविक क्रांति की सफलता के पश्चात् संपूर्ण विश्व में साम्यवादी सत्ता स्थापित करने का आह्वान किया गया। अर्थात् साम्यवादी सरकार का अंतर्राष्ट्रीय केन्द्र रूस था। जर्मनी के पूंजीपति, जमींदार एवं कुलीन पादरी वर्ग साम्यवाद से काफी खौफ खाए हुए थे। उन्हें इस चीज का भय था कि साम्यवाद की मजबूती से उनकी शक्ति, प्रतिष्ठा एवं संपत्ति पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा। 1929 में आर्थिक संकट की गंभीर समस्याओं ने साम्यवाद की जड़ों को मजबूत किया और 1930 के चुनाव में साम्यवादी दलों का प्रदर्शन आशा के अनुरूप रहा। स्वाभाविक रूप से इसका ये प्रदर्शन पूंजीपतियों एवं उद्योगपतियों हेतु खतरे की घंटी थी। ऐसी स्थिति में हिटलर ने जर्मनी जनता को साम्यवादी भय दिखाकर अपने पक्ष में कर लिया तथा पूंजीपति वर्गों की असीम सहायत पाकर अपनी पार्टी की आर्थिक स्थिति को मजबूत किया, सामाजिक व राजनीतिक प्रतिष्ठा भी अर्जित की एवं 1933 के चुनाव में जबर्दस्त सफलता हासिल की।

- (iv) **यहूदी विरोधी भावनाएं** – जर्मनी की जनसंख्या में यहूदियों की संख्या नगण्य ही रही परन्तु वहां के व्यापार, व्यवसाय एवं राजनीति में यहूदियों की अग्रगण्य भूमिका थी। यह वर्ग जर्मनी का वैभवशाली वर्ग था जिसके पास अकूत धन एवं ऐश्वर्य का संकेन्द्रण था। एक आम जर्मन जनता यह बात स्पष्ट रूप से जानती थी कि प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी की पराजय का प्रत्यक्ष संबंध यहूदियों की राष्ट्रविरोधी व्यवहारों से ही था। यही कारण था कि जर्मनी के सरजमीं पर यहूदी विरोधी भावनाएं व्याप्त थीं। हिटलर ने जर्मन जनता की इस सोच की और तीव्र एवं उग्र किया। हिटलर का कहना था कि इन वर्गों के पास धन के असीम स्रोत होने के बावजूद भी इस वर्ग ने जर्मनी की सुरक्षा एवं सैन्य व्यवस्था मजबूत करने की कोशिश नहीं की। इस तरह हिटलर ने यहूदियों को जर्मनी के साथ विश्वासघात करने वाला बताया और यहूदियों को जर्मनी से निष्कासित करना अपना परम लक्ष्य निर्धारित किया।

- (v) **हिटलर का व्यक्तित्व एवं उसका स्वयंसेवक दल** – हिटलर के आकर्षक व्यक्तित्व ने जर्मनी की तत्कालीन समस्याओं को चिह्नित कर जनभावनाओं को तीव्र गति से उभारा। कूटनीति का सहारा लेकर हिटलर ने उपलब्ध सभी संसाधनों का अधिकतम उपयोग किया जनता के मनोविज्ञान का एक अच्छा पारखी होने का परिचय देते हुए हिटलर ने समस्त जनता को राष्ट्र निर्माण में आगे बढ़ने के लिए प्रेरित किया।

नाजीवाद के विकास में हिटलर द्वारा गठित की गई स्वयंसेवक दस्ते का भी विशेष योगदान है। स्वयंसेवक सेना के माध्यम से हिटलर ने सफलतापूर्वक नाजी पार्टी का प्रचार-प्रसार किया एवं अपने विरोधियों को नीचा दिखाया। जर्मनी की निःशस्त्रीकरण एवं सैन्य संख्या में होने वाली अप्रत्याशित कमी के फलस्वरूप बेरोजगार हुए सैनिक इस स्वयंसेवक दल में शामिल हो गए। इस तरह से स्वयंसेवक दल ने नाजी पार्टी को सबल आधार प्रदान किया।



(vi) **वाइमर गणतंत्र की असफलता**— प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी पराजय की ओर बढ़ रही थी। फलतः जनदबाव में आकर तत्कालीन राजा कैसर द्वितीय सत्ता त्याग कर हॉलैण्ड चला गया। इस राजनीतिक अव्यवस्था की स्थिति में वहां गणतंत्रीय प्रणाली की स्थापना हुई। एबर्ट राष्ट्रपति एवं फिलिप शीडमैन इस गणतंत्रीय व्यवस्था के अंतर्गत प्रथम प्रधानमंत्री बने।

परन्तु वाइमर गणतंत्र जनता की आकांक्षाओं पर खरा उतरने में नाकाम रहा। जर्मनवासी वाइमर गणतंत्र से संतुष्ट नहीं थे एवं उसे ही राष्ट्रीय अपमान का दोषी मानती थे क्योंकि गणतंत्रीय सरकार ने ही वर्साय की संधि पर हस्ताक्षर किए थे। इसलिए जर्मन जनता ने गणतंत्र के विरुद्ध हिटलर एवं नाजी पार्टी का खुलकर साथ दिया।

हिटलर की गृह नीति (Domestic Policy of Hitler)

सत्तासीन होने के बाद हिटलर ने अपनी शक्ति तथा देश के सर्वांगीण विकास हेतु हर संभव प्रयास किया। हिटलर की विदेश नीति का यह मापदंड ही था कि अपने विरोधी दलों के दमन के साथ-साथ अपने दल के अंदरूनी विरोधियों को भी दबाया जाय। यहूदियों के प्रति कठोर व्यवहार कर देश से पलायन करने हेतु मजबूत किया जाना विकास की गति तीव्र करने हेतु बेरोजगारों को रोजगार उपलब्ध कराना, उद्योग व्यापार को बढ़ावा दिया जाना एवं जर्मन नवयुवकों में सांस्कृतिक विकास पर ध्यान केन्द्रित किया जाना आदि हिटलर की गृह नीति के तत्व थे। इन सभी प्रयासों से जर्मनी की आंतरिक स्थिति सुदृढ़ हुई।

शासन की बागडोर संभालते ही हिटलर निरंकुश अधिनायक तंत्र की ओर सर्वसत्तावादी सिद्धान्त पर आधारित व्यवस्था का प्रबल पोषक हिटलर एक नेता, एक दल एवं एक राज्य की व्यवस्था में आस्था रखता था। सत्ता के पूर्ण केन्द्रीयकरण का समर्थक हिटलर ने जर्मनी के संघात्मक शासन प्रणाली को एकात्मक स्वरूप प्रदान किया। नाजी दल की केन्द्रीय समिति लोकसभा की सदस्यता हेतु उम्मीदवारों की सूची तैयार करती थी एवं ये सभी उम्मीदवार सर्वसम्मति से संसद के सदस्य हो जाते थे। हिटलर की इस अधिनायकतंत्रीय व्यवस्था के अंतर्गत नाजी दल के अतिरिक्त सभी दलों को भंग कर दिया गया एवं अन्य दलों के संगठन को अवैध घोषित कर दिया गया। हिटलर की अधिनायकतंत्रीय विचारधारा नागरिक स्वतंत्रताओं पर अंकुश लगाती थी। हेनरिख हिमलर के नेतृत्व में गुप्ताचार प्रणाली (गेस्टापो) का गठन किया गया। इस संगठन का नेटवर्क संपूर्ण जर्मनी में फैला हुआ था। वह गुप्तचर प्रणाली इतनी सक्रिय थी कि छोटी-छोटी बातों की जानकारी भी हिटलर तक द्रुतगति से पहुंच जाती थी। हिटलर की अधिनायकवादी दृष्टिकोण की सफलता में इन गुप्तचर प्रणाली का यथेष्ट योगदान रहा।

हिटलर विशुद्ध प्रजातीयता अर्थात् रक्त की शुद्धता में विश्वास करता था। जर्मनी में रहने वाले यहूदियों को वह अनार्य कहकर नफरत करता था। इन यहूदियों का दमन करने के उद्देश्य से हिटलर ने अप्रैल, 1933 में दमनकारी कानून बनाए। इस कानून के अनुसार यहूदियों को वोट देने के अधिकार से वंचित कर दिया गया, एवं किसी भी राजकीय पदों हेतु उसे उपयुक्त नहीं समझा गया। उन्हें निजी व्यवसाय करने पर भी प्रतिबंध लगा दिया गया। यहूदियों के प्रति किए गए इस व्यवहार के कारण जर्मनी से भारी संख्या में यहूदियों का पलायन होने लगा एवं वे अन्यत्र शरणार्थी के रूप में पनाह लेने लगे।

हिटलर ने यहूदी विरोधी अभियान के साथ-साथ रोम कैथोलिकों के प्रति भी क्रूरता एवं नृशंसता का व्यवहार किया। इसके विरुद्ध अभियान का मूलभूत कारण यह था कि इन लोगों ने नाजीवाद एवं हिटलर की सत्ता के विरुद्ध आंदोलन छेड़ दिया था क्योंकि रोमन कैथोलिक की छवि अंतर्राष्ट्रीय थी जबकि हिटलर की व्यवस्था अर्थात् नाजीवाद राष्ट्रीयता का प्रतीक था। अनेक रोम कैथोलिक पादरी को गिरफ्तारी कर कठोर यातनाएं दी गईं और अंततः इनकी राजनीतिक शक्ति का अंत कर दिया गया।

देश में व्याप्त आर्थिक अवनति को दूर करने हेतु पूंजीपतियों एवं श्रमिकों के अलग-अलग सिंडिकेट बनाए गए। श्रमिकों के काम के घंटे, छुट्टियों एवं परिश्रमिक का निर्धारण, पूंजीपतियों का मुनाफा, वस्तुओं की कीमतें, आर्थिक संगठन से संबंधित व्यवस्था का निर्धारण, श्रमिक-उद्योगपतियों के झगड़े का निपटारा आदि विषयों पर निर्णय लेने का अधिकार सिर्फ नाजी पार्टी से संबंधित व्यक्ति को प्राप्त था। इस व्यवस्था में श्रमिकों को हड़ताल के अधिकार से वंचित कर दिया गया। देशी उद्योग के उत्पादन को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया गया। देशी उत्पादन में वृद्धि के फलस्वरूप निर्यात पक्ष पर विशेष जोर दिया गया जबकि आयात पक्ष को यथासंभव नियंत्रित किया गया।

हिटलर के इन प्रयासों से विभिन्न व्यवसायों की आशातीत प्रगति हुई एवं उसकी आर्थिक दशा में सुधार हुआ। ज्यों-ज्यों देश की आर्थिक संरचना में वृद्धि होती गई त्यों-त्यों जर्मनी में व्याप्त बेरोजगारी की समस्या का

निदान होने लगा। हिटलर ने बेरोजगारी की जटिल समस्याओं के समाधान हेतु लगभग 60 लाख बेरोजगार मजदूरों को 'मजदूर स्वयंसेवक सेना' के रूप में संगठित किया। इन मजदूर सैनिकों को भोजन, वस्त्र आदि सामग्री राज्य द्वारा उपलब्ध कराई जाती थी। ये सैनिक मूलतः निर्माणात्मक कार्य जैसे बंजर भूमि को कृषि भूमि में बदलना, सड़कें बनाना आदि कार्यों से संबद्ध थे।

हिटलर की गृह नीति के अंतर्गत एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष यह भी था कि वह जर्मन जाति की श्रेष्ठता में असीम विश्वास करता था। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् जर्मन लोगों में हुए मनोबल की कमी को दूर करने के लिए हिटलर ने करिश्माई रूप से जर्मनी की प्राचीन सांस्कृतिक गौरव को बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत किया। जर्मन प्रजाति की श्रेष्ठता को सुनिश्चित करने के लिए शिक्षा व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन किए। शिक्षा व्यवस्था एवं पाठ्यक्रम मूलतः जर्मनी के लोगों में उत्कृष्ट प्रजातीयता, जर्मन जाति की उत्कृष्टता तथा अन्य जातियों विशेषकर यहूदियों के प्रति निकृष्टता के भाव भरे जाने पर केन्द्रित था।

हिटलर की विदेश नीति (Foreign Policy of Hitler)

हिटलर की विदेश नीति जर्मन राष्ट्रवाद पर आधारित थी। सत्ता ग्रहण करने से काफी पहले वह अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'मिन काम्फ' (आत्म-कथा) में विदेश नीतियों का निर्धारण प्रस्तुत कर चुका था। वह सर्व जर्मनवाद का कट्टर समर्थक था और बिखरे हुए जर्मनों को एकत्रित कर एक शुद्ध जर्मन साम्राज्य कायम करना चाहता था, जो रक्त से शुद्ध जर्मन जाति का प्रतिनिधित्व करता। हिटलर की विदेश नीति का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू था- पूर्वी यूरोप में स्लाव प्रजाति को मिटाकर जर्मन साम्राज्य का प्रसार करना। इन विभिन्न विदेशी नीतियों को अमलीजामा पहनाने हेतु हिटलर ने सभी तरीकों को अपनाने हेतु तैयार था जिससे जर्मन राष्ट्रवाद को अंतर्राष्ट्रीय दर्जा मिल सके।

1933 में सत्ता में आते ही हिटलर ने वर्साय संधि के अपमान को अतिशीघ्र समाप्त करने के लिए कदम उठाया। उसने अक्टूबर, 1933 में जेनेवा में आयोजित निःशस्त्रीकरण सम्मेलन में भाग लेने पहुंचे जर्मन प्रतिनिधि को वापस बुला लिया एवं एवं उसी समय राष्ट्रसंघ की सदस्यता त्यागने संबंधी सूचना भी दे दी। हिटलर ने जर्मनी पर वर्साय संधि द्वारा आरोपित क्षतिपूर्ति की व्यवस्था को मानने से भी इंकार कर दिया। उसने यह स्पष्ट कर दिया कि क्षतिपूर्ति की इस रकम जर्मनी अभी तक अदा कर रही है, वह न तो व्ययसंगत है और न ही इसका कोई औचित्य है। अतः जर्मनी ने क्षतिपूर्ति की इस रकम को सदा के लिए बन्द कर दिया। वर्साय संधि के तहत आरोपित निःशस्त्रीकरण संबंधी पहलू को हिटलर ने त्याग दिया एवं अतिवादी सैनिक सेवा आरंभ की तथा जर्मन सैन्यवाद को प्रबलता प्रदान की। हिटलर ने घोषणा की कि वर्साय संधि की कोई भी शर्त अब जर्मनी को स्वीकार नहीं है एवं अब से जर्मनी अपने को इस आरोपित संधि से मुक्त समझेगा। जर्मन राष्ट्रीयता एवं हिटलर की यह एक बड़ी उपलब्धि थी।

हिटलर ऑस्ट्रिया का जर्मनी में विलय चाहता था और इसके लिए पोलैण्ड से मदद अपेक्षित थी। इसके अतिरिक्त वह पेरिस शांति सम्मेलन के तहत पोलैण्ड को दिए गए जर्मन क्षेत्र को प्राप्त करना चाहता था। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए 1934 में हिटलर ने पोलैण्ड से दस वर्षों के लिए समझौता किया और यह सुनिश्चित किया गया कि दोनों एक दूसरे की वर्तमान सीमाओं का किसी भी प्रकार से अतिक्रमण नहीं करेगा। सभी जर्मन-भाषा भाषी लोगों को एक सूत्र में पिरोना हिटलर की विदेश नीति का महत्वपूर्ण पहलू था। अतः इस लक्ष्य को पाने के लिए हिटलर ने ऑस्ट्रिया के विलय की योजना बनाई क्योंकि आस्ट्रियन जर्मन जाति के ही थे। इस संबंध में ऑस्ट्रिया में नाजी पार्टी की एक शाखा खोली गई और इसी पार्टी की सहायता से जर्मनी में ऑस्ट्रिया के विलय से संबंधित आंदोलन शुरू हुआ। विभिन्न रणनीति से डरा-धमकाकर एवं फिर जनमत-संग्रह कर अंततः ऑस्ट्रिया को 1934 में जर्मनी में मिला लिया गया। इस कार्य में इटली एवं जापान की मित्रता का लाभ भी हिटलर को मिला था।

1935 में हिटलर की पुनर्शस्त्रीकरण संबंधी घोषणा के फलस्वरूप फ्रांस में खलबली मच गई क्योंकि हिटलर ने फ्रांस को अपना प्रबल शत्रु घोषित किया था। इस समय अंतर्राष्ट्रीय दांव-पेंचों में हिटलर ने विशेष अभिरुचि दिखाई। वह मित्रराष्ट्रों की आपसी मनमुटाव एवं संशय की स्थिति से लाभ उठाना चाहता था। इस समय जर्मनी-ब्रिटेन मित्रता का वातावरण तैयार हुआ। फ्रांस एवं रूस के मध्य होने वाले संधि को ब्रिटेन शक की निगाह से देखता था। हिटलर यह जानता था कि ब्रिटेन जर्मनी के शस्त्रीकरण की नीति का विरोध नहीं





करेगा। इसी वातावरण में जर्मनी-ब्रिटेन समझौता (1935) संपन्न हुआ, जिसके अंतर्गत ब्रिटेन ने जर्मनी के शस्त्रीकरण पर सहमति जताई किन्तु यह बात भी तय हुई कि जर्मनी अपनी नौ सेना 35% से अधिक नहीं बढ़ा सकता है। अतः हम कह सकते हैं कि हिटलर की यह एक महान कूटनीतिक विजय थी।

ब्रिटेन के साथ कूटनीतिक संबंध बनाने के बाद हिटलर ने आक्रामक रुख अपनाते हुए राइनलैंड क्षेत्र पर अधिकार जमाने के लिए प्रयास करने लगा क्योंकि वर्साय संधि के द्वारा जर्मनी पर यह प्रतिबंध लगा था कि राइनलैंड क्षेत्र में न तो वह सशस्त्र सेना रख सकता है और न ही किलाबन्दी कर सकता है। 1935 में हिटलर बगैर किसी संधि/समझौते की परवाह किए 35 हजार जर्मन सैनिकों की सहायता से राइनलैंड क्षेत्र को अधिकार में कर लिया।

हिटलर की इस आक्रामक नीति से यूरोपीय देश भयभीत हो गए। तेजी से बदलती अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य में स्वाभाविक रूप से हिटलर को यूरोप में एक मित्र की आवश्यकता महसूस हुई। इसी का परिणाम था कि रोम-बर्लिन धुरी अस्तित्व में आया। अबीसिनिया युद्ध के समय जर्मनी ने इटली का समर्थन किया था एवं स्पेन के गृहयुद्ध के अवसर पर फ्रैंको को हिटलर व मुसोलिनी दोनों ने मदद की थी। साथ ही मुसोलिनी एवं हिटलर साम्यवाद के जबर्दस्त विरोधी थे। अतः रोम-बर्लिन धुरी की उपयुक्त पृष्ठभूमि तैयार हुई। इसी तरह बर्लिन-टोकियो धुरी भी 1936 में अस्तित्व में आई। रूसी साम्यवाद से परेशान जर्मनी एवं जापान दोनों देशों के साम्राज्यवादी आकांक्षाओं की पूर्ति के मार्ग में सोवियत संघ बाधक तत्त्व के रूप में था। अतः इसी परिप्रेक्ष्य में जर्मनी जापान के मध्य समझौतों के तहत बर्लिन-टोकियो धुरी बनी। अंततः 1937 में रोम-बर्लिन धुरी रोम-बर्लिन टोकियो धुरी में परिवर्तित हो गई जब इटली बर्लिन-टोकियो धुरी में शामिल हो गई।

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् नवनिर्मित देश चेकोस्लोवाकिया में जर्मन बहुत आबादी वाला क्षेत्र 'सुडेनलैंड' हमेशा जर्मन राष्ट्रवादियों हेतु परेशानी का सबब बना रहा। सत्तासीन होते ही हिटलर ने सुडेनलैंड में नाजी पार्टी की स्थापना के लिए प्रयास किया। नाजी पार्टी की स्थापना के पश्चात् हिटलर ने चेक सरकार को डराना-धमकाना शुरू किया और दृढ़तापूर्वक यह बात सामने रखी कि यदि चेक सरकार जर्मन बहुल सुडेनलैंड के मुद्दों पर संतोषजनक कदम नहीं उठाती है तो बाध्य होकर सुडेन-जर्मनों के न्यायपूर्ण अधिकारों की रक्षा के लिए चेकोस्लोवाकिया के विरुद्ध सैन्य कार्यवाही की जाएगी। यह जटिल राजनीतिक संकट को उत्पन्न करने वाली बातें थी क्योंकि चेकोस्लोवाकिया फ्रांस एवं सोवियत संघ के साथ संधि से जुड़ा हुआ था। जर्मनी द्वारा चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण की स्थिति में उसे चेकोस्लोवाकिया सहित फ्रांस एवं सोवियत संघ से उलझने वाली स्थिति आ जाती। अतः इस जटिल स्थिति में 'म्युनिख पैक्ट' का वातावरण तैयार हुआ। इस सम्मेलन में ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस एवं इटली के शासनाध्यक्ष ने भाग लिए। इस पैक्ट में सुडेनलैंड का जर्मन बाहुल्य क्षेत्र जर्मनी को दिए जाने का फैसला लिया गया। म्युनिख पैक्ट एक ऐसा मोड़ साबित हुआ जिसे चेकोस्लोवाकिया का अंग-भंग कर दिया गया। हिटलर की प्रादेशिक भूख बढ़ती चली गई और वह संपूर्ण चेकोस्लोवाकिया को ही प्राप्त करने हेतु उद्यत हुआ एवं 15 अगस्त, 1938 को चेकोस्लोवाकिया को जर्मन साम्राज्य के अंतर्गत समाहित कर लिया गया। चेकोस्लोवाकिया के पतन के बाद हिटलर ने लिथुआनिया को डरा-धमकाकर मार्च, 1939 में जर्मन बाहुल्य आबादी वाले मेमेल बंदरगाह क्षेत्र पर अधिकार कर लिया।

वर्साय की संधि के तहत अस्तित्व में आए नव राष्ट्र पोलैण्ड को बाल्टिक तट तक पहुंचने के लिए उसे जर्मनी के बीचों-बीच 'पोलैण्ड के गलियारा' नाम से प्रसिद्ध जर्मन भू-क्षेत्र दे दिया गया था। डांजिंग बंदरगाह पर इस गलियारे का दरवाजा खुलता था जिससे इस प्रसिद्ध जर्मन नगर को जर्मनी से पृथक कर राष्ट्रसंघ के संरक्षण में रखा गया था। सत्तासीन होते ही हिटलर ने इस मांग को जोरदार तरीके से रखा कि पोलैण्ड गलियारा समाप्त कर डांजिंग का बंदरगाह उसे मिलना चाहिए। इस गलियारे एवं डांजिंग प्रश्नों पर हिटलर ने एक गंभीर अंतर्राष्ट्रीय संकट उत्पन्न कर दिया। इस स्थिति में ब्रिटेन एवं फ्रांस की तुष्टिकरण की नीति कमजोर हो गई। परिस्थितिवश ब्रिटेन एवं फ्रांस ने पोलैण्ड को इस बात की गारंटी दी कि यदि जर्मनी पोलैण्ड पर आक्रमण करता है, तो उस स्थिति में पोलैण्ड को सहायता दी जाएगी। हिटलर चाहता था कि यदि युद्ध छिड़ता है तो सोवियत संघ कम से कम तटस्थ रहे। सोवियत संघ ने समय की आवश्यकता को देखते हुए 29 अगस्त, 1939 को जर्मनी के साथ एक अनाक्रमण संधि की जिसके अनुसार दोनों देशों ने एक-दूसरे के विरुद्ध युद्ध नहीं छेड़ने का आश्वासन दिया। इसी परिस्थिति में हिटलर ने 1 सितंबर, 1939 को पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया और यूरोप की महाशक्तियां एक अन्य यूरोपीय युद्धों में फंस गईं। यह स्थिति द्वितीय विश्वयुद्ध का द्योतक थी। इस तरह हिटलर की विदेश नीति जर्मनी की विस्तारवाद पर आधारित थी।

10. आर्थिक मंदी



1929 से 1932 ई. तक का काल आर्थिक मंदी का काल माना जाता है। यह विश्वव्यापी मंदी 1929 में शुरू हुई और संयुक्त राज्य अमेरिका से फैलती हुई विश्व के लगभग सभी देशों को प्रभावित करने लगी, चाहे वे औद्योगिक देश हों या प्राथमिक वस्तुओं के उत्पादक देश। विश्व अर्थव्यवस्था चरमरा गई और चरमरा रही इस अर्थव्यवस्था की विशेषता थी गिरती हुई कीमत, उत्पादन ह्रास, सिकुड़ता हुआ व्यापार क्षेत्र और बढ़ती हुई बेरोजगारी। 24 अक्टूबर 1929 को अमेरिका के वाल स्ट्रीट स्थिति स्टॉक एक्सचेंज में एक गहरा उतार आया। यह काला बृहस्पतिवार के नाम से जाना जाता है।

यह इतिहासकारों में मतभेद का विषय है कि विश्वव्यापी आर्थिक मंदी कैसे आयी। वस्तुतः इसका कोई एक कारण नहीं हो सकता है। 19वीं सदी के अंत तक एक एकीकृत विश्व अर्थव्यवस्था स्थापित हो चुकी थी। प्रथम विश्व युद्ध के मध्य कुछ अवरोध उत्पन्न हुआ था। किंतु 1920 के बाद यह पुनः पूर्व स्थिति में लौट गई थी। 19वीं सदी के अंत से ही यह बात महसूस की जा रही थी कि लगभग प्रत्येक दस वर्ष पर एक बार आर्थिक मंदी आती है। अतः यह संभावना व्यक्त की जाने लगी थी कि 1920 के दशक में आर्थिक मंदी पुनः आएगी, किंतु इस दशक के अंत में जो मंदी आई वह पहले से भिन्न थी और उसने विश्व अर्थव्यवस्था को कुछ वर्षों के लिए बिल्कुल ही चौपट कर दिया।

अगर हम इसके कारणों की परीक्षा करते हैं तो पाते हैं कि इसका मौलिक कारण विश्व आर्थिक विकास का परस्पर असंतुलन था। अमेरिका के मोटर उत्पादन में तीव्र वृद्धि हुई और अमेरिकी मोटर बहुत बड़ी संख्या में यूरोप पहुंचने लगे। अतः विश्व व्यापार में अमेरिका का अंश बढ़ता गया और यूरोपीय देशों का अंश घटता गया।

कृषि क्षेत्र में आये परिवर्तनों ने भी आर्थिक मंदी को प्रभावित किया। कृषि का मशीनीकरण हो रहा था। स्वाभाविक रूप से उत्तरी अमेरिका और यूरोप में कृषि उत्पादन बहुत बढ़ गया। अतः कृषि उत्पादनों के मूल्य में गिरावट आई। अब वैसे देश जो कच्चे माल और कृषि उत्पाद के निर्यातक थे विश्व व्यापार में पिछड़ने लगे। गिरती हुई कृषि आमदनी को पूरा करने के लिए उन्होंने अपने यहां औद्योगिक वस्तुओं का आयात कम कर दिया। इस तरह अमेरिका औद्योगिक और कृषि दोनों क्षेत्रों में आगे था। वहीं अपने देश में आयात को कम करने के लिए वह सुरक्षात्मक चुंगी लगा रहा था। दूसरी तरफ प्रारंभिक क्षेत्र में वह बहुत हद तक स्वावलंबी रहा था।

1920 के दशक में संयुक्त राज्य अमेरिका की पूंजी की एक बड़ी राशि यूरोप में लगी हुई थी। 1925 से 1929 के बीच यह राशि 2900 मिलियन डॉलर थी। दूसरी तरफ अमेरिका जर्मनी को भी कर्ज देता था जिस कर्ज की सहायता से जर्मनी इंग्लैंड और फ्रांस को युद्ध का मुआवजा वापस करता था और साथ ही अपने देश के उद्योगों और सार्वजनिक क्षेत्र के कार्य पर भी व्यय करता था। किंतु अमेरिकी कर्ज ने यूरोप में ऋणग्रस्तता का एक चक्र बना दिया था (Indebtedness cycle)। अर्थात् जर्मनी अमेरिका से ऋण लेता था और फिर यूरोपीय देशों को वह मुआवजा देता था। आगे अमेरिका ने यूरोप से अपनी पूंजी खींच ली। स्वाभाविक रूप से यूरोप की अर्थव्यवस्था चौपट हो गई।

अमेरिका में पूंजीपतियों ने वह पूंजी सट्टेबाजी में लगाना शुरू किया। अमेरिका में सट्टेबाजी का एक दौर शुरू हुआ जिसने आम अमेरिकी महाजनों के धन को आकर्षित किया। इसके परिणामस्वरूप थोड़े काल के लिए अमेरिकी स्टॉक एक्सचेंज में उछाल आया। फिर 24 अक्टूबर 1929 को वह अवसान हुआ जो विश्वव्यापी आर्थिक मंदी में तब्दील हो गया।

यूरोप के देशों पर इसका व्यापक दुष्प्रभाव पड़ा। अमेरिकी पूंजी यूरोप से वापस हो रही थी और वालस्ट्रीट क्रैश के बाद अमेरिकी पूंजी और भी तेजी से खींची जाने लगी।

यूरोपीय देशों पर प्रभाव: जर्मनी इसमें सबसे अधिक दुष्प्रभावित हुआ। जर्मनी की रूर घाटी में औद्योगिक उत्पादन ठप्प पड़ गया। जर्मनी में बेरोजगारों की संख्या दिसंबर 1931 में 44 लाख से बढ़कर सितंबर 1932 में 50 लाख हो गई। जर्मनी में वाइमर गणतंत्र खतरे में पड़ गया। मध्य वर्ग की आर्थिक स्थिति भी दयनीय हो गई। हिटलर ने चिंता के इस वातावरण से भरपूर लाभ उठाया और आगे जर्मनी में हिटलर तानाशाह के रूप में उदित हो सका। फ्रांस का सबसे महत्वपूर्ण उपनिवेश एशिया में हिन्दचीन था। कुछ संघर्षों के पश्चात् 1954 के जेनेवा सम्मेलन में हिन्दचीन स्वतंत्र हो गया। हिन्दचीन में विफलता के पश्चात् फ्रांस ने अपने अफ्रीकी उपनिवेशों पर कठोर नियंत्रण बनाए रखना चाहा। किंतु अफ्रीका में भी स्वतंत्रता आन्दोलन प्रारंभ हो गया तथा 1956 में उत्तरी अफ्रीकी फ्रेंच उपनिवेश ट्यूनिशिया और मोरक्को स्वतंत्र हो गए।



फिर भी 1956 में भी फ्रांस को यह उम्मीद थी कि उसके अन्य अफ्रीकी उपनिवेश बचे रहेंगे। अतः इन उपनिवेशों में उसने कतिपय नये सुधार क्रियान्वित किए। फ्रांसीसी संसद में भी उपनिवेशों को बेहतर प्रतिनिधित्व दिया गया तथा क्षेत्रीय परिषदों को भी अधिक शक्तियां दी गईं। चार्ल्स द गाल ने 1958 में एक नयी नीति की आधारशिला रखी। उसने फ्रांसीसी यूनियन को फ्रांसीसी समुदाय (French Community) में परिवर्तित करने का निर्णय लिया। फिर उपनिवेशों को स्वतंत्र होने का तथा अत्यधिक स्वायत्तता के साथ फ्रांसीसी समुदाय की सदस्यता ग्रहण करने का विकल्प दिया गया। उस समय केवल गुयाना ने स्वतंत्र रहने का निर्णय लिया। परन्तु दो वर्ष के अन्दर ही अन्य उपनिवेश भी स्वतंत्रता के लिए इच्छुक हो गए। अल्जीरिया में स्वतंत्रता के लिए रक्तपूर्ण संघर्ष हो गया। फ्रांसीसी विउपनिवेशीकरण में कहीं अधिक रक्तपात एवं हिंसा हुई।

डच साम्राज्य का विघटन

द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व होलैंड का एक बड़ा साम्राज्य ईस्ट इंडिज में था। इसमें जावा, सुमात्रा, वेस्ट इंडीज, (न्यू गुयाना का एक भाग और ब्रुनेई का दो तिहाई भाग शामिल था)। दक्षिण अमेरिका की मुख्य भूमि पर उसका वेस्ट इंडिज एवं सूरीनाम पर भी नियंत्रण था। इसके सबसे महत्वपूर्ण उपनिवेश ईस्ट इंडिज में द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व ही राष्ट्रवादी आन्दोलन प्रारंभ हो चुका था। डा. सुकर्णो के नेतृत्व में 1930 के दशक में राष्ट्रवादी संगठित होने लगे थे। परन्तु होलैंड ने बहुत ही कड़ाई से इस आन्दोलन का दमन किया। फिर 1942 में जापान द्वितीय विश्वयुद्ध के मध्य इंडोनेशिया पर कब्जा कर लिया तथा उसने राष्ट्रवादी नेताओं को मुक्त कर दिया। 1945 में जापान के समर्पण के पश्चात् डा. सुकर्णो ने इंडोनेशिया में एक स्वतंत्र गणतंत्र की घोषणा की। परन्तु तभी होलैंड ने युद्ध की विभीषिका से उबरने के पश्चात् इंडोनेशिया पर पुन अपना दावा प्रस्तुत किया। अतः इन दोनों देशों के बीच संघर्ष छिड़ गया। अतः अन्त में इण्डोनेशिया को स्वतंत्रता मिली परन्तु पश्चिमी इरियान के मुद्दे पर संघर्ष बना ही रहा। आगे 1963 में इण्डोनेशिया को पश्चिमी इरियान का क्षेत्र मिला। उसी तरह 1975 में सूरीनाम भी स्वतंत्र गणतंत्र के रूप में स्थापित हो गया। इंग्लैंड में भी आर्थिक मंदी का तीव्र प्रभाव महसूस किया गया। इंग्लैंड ने 1931 ई. में स्वर्णमान का त्याग कर दिया। इंग्लैंड में बेरोजगारों की संख्या बढ़ गई तथा वह बढ़कर कुल श्रमिकों का 29% हो गई। दक्षिणी पूर्वी यूरोप के प्राथमिक वस्तुओं के उत्पादक देशों की स्थिति और भी दयनीय हो गई। उनकी मुद्रा में 66% प्रतिशत की गिरावट आई। स्वाभाविक रूप से उनके आंतरिक एवं बाह्य व्यापार दोनों दुष्प्रभावित हुए।

यूरोप में केवल दो देश 1932 ई. तक इस व्यापक मंदी के खतरे से उबर पाए। उनमें से प्रथम फ्रांस था जिसके पास संयुक्त राज्य अमेरिका के बाद सबसे अधिक स्वर्ण भण्डार सुरक्षित था। इसलिए 1931 ई. के वित्तीय संकट से उबर पाया। किंतु 1934 ई. तक पुनः स्थिति बदल गई और फ्रांस एक बार फिर आर्थिक मंदी के चपेट में आ गया। दूसरा देश सोवियत रूस था जो स्टालिन के पृथक्तावादी नीति के कारण अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था से बाहर था। अतः अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का दुष्प्रभाव सोवियत रूस में नहीं महसूस किया गया।

विभिन्न सरकारों ने आर्थिक मंदी की समस्या से निबटने के लिए तीन रास्ते अपनाए। उन्होंने कड़ा मुद्रा नियंत्रण लागू किया तथा विनिमय दरों पर अंकुश लगाया। इसके अतिरिक्त टैरिफों को सुदृढ़ किया तथा आयातों पर प्रतिबंध लगाया गया। विभिन्न देशों ने अपने-अपने देश के मंदी के दौर पर नियंत्रण पाने के लिए सख्त कानून लागू किए।

साथ ही, सभी यूरोपीय देशों ने मिलकर मंदी पर काबू पाने का प्रयास किया। उनके सम्मिलित प्रयासों का ज्वलंत उदाहरण है जुलाई 1932 का लाओस सम्मेलन। इस सम्मेलन में जर्मनी के विरुद्ध युद्ध क्षतिपूर्ति की अंतिम शर्तों को पूरा किया गया। इस सम्मेलन में जर्मनी को मुआवजे की राशि में लगभग 90% की छूट दी गई। तत्पश्चात् 1933 में लंदन सम्मेलन हुआ जिसमें लगभग 66 देशों ने भाग लिया किंतु अमेरिका की जिद के कारण कोई अंतिम समझौता नहीं हो सका।

उपर्युक्त तीन उपायों के अतिरिक्त अलग-अलग देशों के कुछ अलग-अलग उपाए भी किए। उदाहरण के लिए ब्रिटेन ने बजट नियंत्रण के द्वारा मंदी पर काबू पाने का प्रयास किया। दूसरी तरफ जर्मनी की नाजी सरकार ने अन्य प्रकार के उपाय किए। इसने अर्थव्यवस्था में प्रत्यक्ष सरकारी हस्तक्षेप किया। साथ ही किसी प्रकार के विरोध को क्रूरतापूर्वक कुचल देने की नीति अपनाई।

नाजी आर्थिक नीति में मुख्यतया भारी उद्योगों के विकास एवं सार्वजनिक निर्माण कार्य पर विशेष बल दिया गया। परिणामतः बेरोजगारी का लगभग अंत हो गया। परंतु नाजी आर्थिक नीति के दो मुख्य दोष थे- प्रथम, अर्थव्यवस्था का सैन्यवाद के विकास के लिए उपयोग किया जा रहा था। दूसरे, नाजी आर्थिक नीतियां मूलभूत आर्थिक स्वतंत्रता एवं उपभोक्ता उद्योगों के मूल्य पर क्रियान्वित की जा रही थी।

आर्थिक मंदी के कारणों की जांच करते हुए विभिन्न इतिहासकारों ने विभिन्न प्रकार के मत दिए हैं। एक तरफ साम्यवादी लेखक एवं मार्क्सवादी इतिहासकारी आर्थिक मंदी को पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का आंतरिक संकट मानते हैं। दूसरी तरफ जॉर्ज मेनार्ड केन्स ने उसे एक स्वाभाविक बुराई मानकर उस समस्या के समाधान के लिए कुछ महत्वपूर्ण सुझाव दिए। उसने एडम स्मिथ के क्लासिकल अर्थशास्त्र को तिलांजलि दे दी और उसके बदले सरकारी हस्तक्षेप को अर्थव्यवस्था की गतिशीलता के लिए आवश्यक माना।

आर्थिक मंदी के प्रभाव

आर्थिक मंदी का राजनीतिक प्रभाव बहुत व्यापक हुआ। 1920 के दशक में यूरोप में बहुत सारे संसदीय प्रजातंत्र स्थापित हुए परन्तु 1930 के दशक में प्रजातंत्र केवल ब्रिटेन, फ्रांस, स्कैण्टीनेवियाई देश, चेकोस्लोवाकिया एवं कुछ ही देशों में सुरक्षित रहा। वैसे देशों में भी जहां अब भी प्रजातांत्रिक व्यवस्था अस्तित्व में थी विशेष प्रकार के राजनीतिक उभार देखे गए।

1930 के दशक में आपसी सहमति से आर्थिक संकट के समाधान की असफलता ने आगे एक विशेष प्रकार के राजनीतिक तनाव को जन्म दिया। आर्थिक अराजकता ने अंतर्राष्ट्रीय अराजकता को जन्म दिया। आर्थिक मंदी ने तीन महान साम्राज्यवादी शक्तियों को जन्म दिया जिनकी अर्थव्यवस्था साम्राज्यवादी विस्तार एवं युद्ध के लिए प्रयुक्त की जा रही थी।

फ्रैंकलिन डी रूजवेल्ट का न्यू डील (नया व्यवहार)

आर्थिक मंदी पर नियंत्रण करने के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका में कठोर कदम उठाए गए। अमेरिकी राष्ट्रपति फ्रैंकलिन डी रूजवेल्ट के प्रयास का ही परिणाम था कि विश्वव्यापी आर्थिक मंदी पर नियंत्रण किया जा सका। 1932 के चुनाव में डेमोक्रेटिक पार्टी के प्रत्याशी के रूप में रूजवेल्ट निर्वाचित हुए। उन्होंने आर्थिक मंदी पर नियंत्रण के लिए न्यू डील अर्थात् नये व्यवहार की घोषणा की। उसने कहा “मैं आपके सामने एवं अपने सामने अमेरिकी जनता के प्रति एक नये व्यवहार के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हूँ।”

न्यू डील के उद्देश्य:

- गरीबी के शिकार लोगों को आर्थिक सहायता
- बेरोजगारी पर नियंत्रण
- वस्तुओं के लिए मांगे उत्पन्न करना और अर्थव्यवस्था को पुनः गतिशील बनाना।

उपर्युक्त तीनों लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए उन्होंने मुक्त आर्थिक सिद्धांत को त्याग दिया और जहां तक संभव हो सका सरकारी हस्तक्षेप की नीति को ग्रहण किया।

राष्ट्रीय संकट की स्थिति से निबटने के लिए रूजवेल्ट ने कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन बुलाया जो अमेरिकी आधुनिक इतिहास में 100 दिन के अधिवेशन के नाम से जाना जाता है। इस अधिवेशन में कई विधेयक पारित किए गए। इस संबंध में पारित विधेयकों को दो भागों में विभाजित किया गया। प्रथम तात्कालिक एवं आवश्यक समस्याओं से संबंधित तथा द्वितीय, स्थायी उन्नति से संबंधित। इन दोनों प्रकार के विधेयकों को क्रमशः सहायता एवं पुनः उत्थान तथा सुधार एवं पुनर्निर्माण की संज्ञा दी गई तथा उन्हें सामूहिक रूप से ‘न्यू डील’ का नाम दिया गया। रूजवेल्ट की नवीन अर्थनीति के कार्यक्रम को अंग्रेजी में तीन आर अक्षरों के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है- Relief, Recovery, Reform अर्थात् उन्मुक्ति, प्रतिलाभ एवं सुधार।

रूजवेल्ट ने इस मंदी के चक्र को तोड़ने के लिए बहुत-सी नीतियों को क्रियान्वित किया-

औद्योगिक नीति: औद्योगिक नीति का उद्देश्य अमेरिकी उद्योगों को पुनः गतिशील बनाना था और इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण एवं विशिष्ट अधिनियम 1933 का National Industrial Act (NIRA) था। इस अधिनियम का





उद्देश्य व्यापार एवं उत्पादन का नियमन था। इसके अतिरिक्त इस अधिनियम के उद्देश्य मजदूरी में वृद्धि काम के घंटों में कमी तथा मूल्य में वृद्धि आदि थे। इस अधिनियम से आशा की जाती थी कि जनता की क्रय शक्ति में वृद्धि होगी और अधिक रोजगार के अवसरों का सृजन हो सकेगा।

कृषि संबंधी नीति: रूजवेल्ट की कृषि संबंधी नीति के दो उद्देश्य थे। प्रथम, किसानों की क्रय शक्ति एवं आर्थिक स्थिति को युद्ध पूर्व स्तर में ले जाना। दूसरा, ग्रामीण कर्ज में कमी तथा मूल्य में अतिशय वृद्धि के विरुद्ध किसानों को सुरक्षा प्रदान करना। किसानों की क्रय शक्ति को बढ़ाने के लिए 1933 में एक कृषि समायोजन कार्यक्रम (Agriculture Adjustment Act) पारित किया गया अथवा सहायता प्रदान करने के लिए और भी कई अधिनियम पारित किए गए, जैसे 1933 में कृषि साख विधेयक (Farm credit Act), Emergency Farm mortgage Act and Home owner Loan Act।

सामाजिक आर्थिक प्रत्युत्थान की नीति: इन नीतियों के तहत निम्नलिखित कार्यक्रम अपनाए गए।

1. **सामाजिक सुरक्षा:** इसने अमेरिकी सामाजिक एवं आर्थिक जीवन का एक तरह से कायापलट कर दिया। उस नीति के तहत संघीय सरकार ने राज्य सरकारों को प्रत्यक्ष अनुदान देने की घोषणा की जो प्रसूति बाल कल्याण, पुनःस्थापना तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा के रूप में थी। सामाजिक सुरक्षा में बुढ़ापे की बीमा योजना को भी सम्मिलित कर लिया गया। 65 वर्ष से अधिक उम्र के वृद्धों के पोषण का भार राज्य सरकार ने ग्रहण किया।
2. **बेरोजगारी:** मार्च 1933 को Unemployment Relief Act पास किया गया। इसके द्वारा राष्ट्रपति को अधिकार दिया गया कि वह बेकारों को सार्वजनिक कार्यों में नियोजित करे, उन्हें आवास-निवास की सुविधा दे तथा जीविकोपार्जन के साधन के रूप में वस्त्र, चिकित्सा एवं नकदी सहायता भी दे। जून 1933 के National employment service Act के अंतर्गत राज्य सरकारों के सहयोग से नियोजन कार्यालयों की स्थापना की गई। बेरोजगारी की स्थिति दूर करने के लिए Civilian conservation की स्थापना की गई। इस संस्था ने 1940 तक 20 लाख युवकों को वनों, खेतों तथा बागानों में कार्य दिया।
3. **आवास:** एक संघीय आवास प्रशासन की स्थापना की गई। 1937 में संयुक्त राष्ट्र आवास प्राधिकरण की स्थापना की गई। अमेरिका के इतिहास में गंदी बस्तियों के जीवन को आधुनिक आवासीय बस्तियों में परिवर्तन इसी क्रम में हुआ।
4. **टेनेसी घाटी परियोजना:** यह परियोजना Recovery के उद्देश्य को पूरा करने के लिए बनाई गई थी। टेनेसी घाटी क्षेत्र के विकास के लिए महती परियोजना बनाई गई इसे टेनेसी घाटी परियोजना (Tennessee Valley Project) कहते हैं। इस योजना के लिए एक अधिनियम लाया गया जिसे Tennessee Valley Development Act कहते हैं। इस परियोजना में 7 राज्य शामिल थे तथा 20 लाख जनसंख्या इससे जुड़ी हुई थी। यह एक बहुदेशीय परियोजना थी।

मुद्रा साख-व्यवस्था नीति: मंदी पर नियंत्रण करने के लिए मुद्रा-साख व्यवस्था में संसोधन आवश्यक था। उस नीति का उद्देश्य स्फीति पर नियंत्रण, बैंकिंग व्यवस्था में सुधार तथा प्रतिभूतियों एवं वस्तु बाजारों का निरीक्षण था।

बैंकिंग क्षेत्र में सुधार: 1933 के बैंकिंग कंपनी ऐक्ट के अंतर्गत R.F.C (Re-construction finance corporation) तथा Federal reserve bank जैसी सुदृढ़ बैंकिंग संस्थाओं तथा व्यावसायिक फर्मों को ऋण देने के लिए एक साथ लाया गया। प्रतिभूतियों एवं वस्तु बाजारों के निरीक्षण के लिए 1933, 1935 एवं 1936 में अधिनियम लाये गये।

मूल्यांकन: न्यू डील की उपलब्धियों के संबंध में इतिहासकारों में मतभेद है। कुछ इतिहासकारों ने यह प्रमाणित करने की कोशिश की है कि फ्रैंकलिन डी रूजवेल्ट की न्यू डील नीति कोई मौलिक सुधार करने में सफल नहीं हुई। वे यह जताने की कोशिश करते हैं कि विश्व अर्थव्यवस्था धीरे-धीरे स्वयं उबर रही थी, अतः इसका श्रेय न्यू डील को नहीं दिया जाना चाहिए। कुछ आलोचकों ने यह भी प्रमाणित करने की कोशिश की कि Farmer's reliefs Act से किसानों की स्थिति में कोई सुधार नहीं हुई, वरन् किसानों की दशा दिनानुदिन बिगड़ती ही गई। रूजवेल्ट की अलोचना इस बात के लिए भी की जाती है कि उसने 1938 में सरकारी खर्च को कम कर दिया जिसके परिणामस्वरूप औद्योगिक विकास में एक बार फिर कमी आ गई। कुछ आलोचकों का मानना है कि वस्तुतः बेरोजगारी पर नियंत्रण न्यू डील नीति से नहीं हो सका वरन् इस पर नियंत्रण द्वितीय विश्वयुद्ध के मध्य हुई जब 1943 में बेरोजगारों की संख्या एक मिलियन से कम हो गई।

किंतु ऐसा मानना सही नहीं है। फ्रैंकलिन डी रूजवेल्ट के न्यू डील को आशातीत सफलता मिली। यह एक समग्र राष्ट्रीय प्रयास था जिसके परिणामस्वरूप न केवल अमेरिका आर्थिक मंदी से उबर पाया वरन् विश्व आर्थिक मंदी का भी चक्र टूट गया। इसकी सबसे बड़ी सफलता इस बात में है कि इसने राष्ट्रीय राज्य को कल्याण के आदर्श से जोड़ दिया और इसकी सफलता इस बात में भी निहित थी कि इसने अमेरिकी मध्य मार्ग की, जिसमें प्रजातंत्र एवं स्वतंत्र उद्यम पर बल दिया जाता था, की रक्षा की। जहां उसने इस मध्यमार्ग की रक्षा की वहीं बहुत सारे देश फॉसिस्ट विचारधारा के शिकार हो गए।

इसके साथ यह प्रश्न खड़ा होता है कि क्या फ्रैंकलिन डी रूजवेल्ट ने न्यू डील के माध्यम से समाजवाद को स्थापित किया। कुछ अलोचक इसे प्रमाणित करने की कोशिश करते हैं कि वस्तुतः न्यूडील एक प्रकार का समाजवादी कार्यक्रम ही था और पूंजीवाद के आंतरिक संकट की स्थिति में इसे प्रमाणित करने की कोशिश करते हैं कि वस्तुतः न्यूडील एक प्रकार का समाजवादी कार्यक्रम ही था और पूंजीवाद के आंतरिक संकट की स्थिति में इसे क्रियान्वित किया गया। किंतु यह तर्क सही नहीं है। रूजवेल्ट का उद्देश्य समाजवादी नीतियों को लागू करना न होकर पूंजीवाद को मजबूत बनाना था। पूंजीवादी ढांचे के तहत ही न्यू डील कार्यक्रम को लागू किया गया था। अमेरिकी जनता को पूंजीवादी मूल्यों में गहरी अस्था थी। अतः रूजवेल्ट ने भी उत्पादन के साधन एवं वितरण की प्रणाली दोनों पर व्यक्ति का ही नियंत्रण स्वीकार किया। एक दृष्टि से देखा जाए तो समाजवाद को स्थापित न करके पूंजीवाद को अधिक टिकाऊ एवं व्यावहारिक बनाया।



EG
CLASSES

11. शीत युद्ध (The Cold War)



शीत युद्ध द्वितीय विश्वयुद्ध का एक महत्वपूर्ण परिणाम था। शीतयुद्ध में हथियारों द्वारा प्रत्यक्ष विजय के विपरीत अन्य क्रियाकलापों और उपायों से प्रभुत्व विस्तार की नीति अपनायी जाती है। शीत युद्ध मूलतः राष्ट्रों के मध्य व्याप्त तनाव की एक ऐसी स्थिति का द्योतक है जिसमें दोनों पक्ष परस्पर शांतिकालीन कूटनीतिक संबंध बनाए रखते हुए भी शत्रुता की भावना रखने हैं। इस युद्ध में अपने पक्ष को प्रबल बनाने के लिए प्रचार-प्रसार, गुप्तचारों एवं षड्यंत्रों का सहारा लिया जाता है। अर्थात् यह प्रत्यक्षतः आमने-सामने किसी युद्ध के बिना एक वैचारिक संघर्ष, राजनीतिक अविश्वास, कूटनीतिक चालों, सैन्य प्रतियोगिता, गुप्तचर्या एवं मनोवैज्ञानिक संघर्ष की प्रक्रिया को इंगित करता है। शीत युद्ध शब्द का प्रयोग उस गहन विद्वेष एवं तनाव को संबोधित करने के लिए किया जाता है जो सोवियत-अमेरिका संबंधों में द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् विकसित हुआ। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् यह बात स्पष्ट हो गई थी कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में एक नवीन युग का प्रारंभ हो रहा था। तत्कालीन राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में उभरती हुई अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था की मूलभूत विशेषता थी- यूरोपीय कोर क्षेत्र के बाहर अनेक प्रभुत्वसंपन्न राज्यों में शक्ति का वितरण जो दो महाशक्तियों- सोवियत संघ एवं संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा नियंत्रित थी।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् विश्व राजनीति में पुराने शक्ति संतुलन का विध्वंस हुआ एवं विश्व में केवल अमेरिका तथा रूस नामक प्रथम श्रेणी की महाशक्तियां रह गयी थी। युद्ध काल में इन दोनों महाशक्तियों ने मित्रराष्ट्रों के साथ मिलकर नाजीवाद एवं फासीवाद को समाप्त करने में सहयोग किया था। युद्ध की समाप्ति के पश्चात् विश्व शांति, सुरक्षा एवं सहयोग के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ का निर्माण किया गया और संपूर्ण मानवता में यह संदेश गया कि उन्हें अब शांति एवं सुरक्षा तथा विकास की गारंटी मिल गई है। परन्तु ऐसी आशा करना निर्मूल साबित हुआ। युद्धकालीन मित्रराष्ट्रों में शांति एवं सुरक्षा में सहयोग करने के स्थान पर द्वेष, ईर्ष्या, वैमनस्व एवं शक्ति के लिए शत्रुतापूर्ण प्रतियोगिता आरंभ हो गई। वास्तव में संयुक्त राष्ट्र-अमेरिका तथा सोवियत रूस के मध्य गहरा मतभेद द्वितीय विश्वयुद्ध के अंतिम चरण में ही उत्पन्न हो गया था। युद्ध समाप्ति के पश्चात् तो मैत्री की सभी संभावनाएं समाप्त हो गईं। दोनों महाशक्तियों में तीव्र तनाव एवं मतभेदों की विषय परिस्थिति सामने आई। दोनों के मध्य आरोपो-प्रत्यारोपों का भीषण दौर चला। यही स्थिति अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में शीत युद्ध के नाम से जानी जाती है। दोनों गुट एक दूसरे को कूटनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक आदि मोर्चों पर पराजित करने में जुट गए। इस प्रकार संपूर्ण विश्व में एक प्रकार का भय, संदेह एवं तनाव का वातावरण बन गया। फलतः विश्व में एक बार पुनः अनिश्चितता की स्थिति उत्पन्न हो गई।

शीत युद्ध के कारण (Causes of the Cold War)

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक मंच पर संयुक्त राज्य अमेरिका एवं सोवियत संघ के रूप में दो महाशक्तियां उभरकर सामने आईं। ये दोनों महाशक्तियां युद्ध से प्राप्त लाभों को अपने-अपने पक्ष में करना चाहती थीं एवं अपने प्रभाव क्षेत्र का विस्तार करना चाहती थीं। अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति के मार्ग में एक-दूसरे को बाधक समझती थीं। इस शीत युद्ध के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं-

- ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में शीत युद्ध का कारण 1917 की बोलशेविक क्रांति में दिखाई देता है। 1917 की बोलशेविक क्रांति के समय से ही पश्चिमी राष्ट्र सोवियत रूस को समाप्त करने का प्रयास कर रहे थे क्योंकि साम्यवाद एक विश्वव्यापी आंदोलन के रूप में प्रस्तुत हुआ था जिसका अंतिम उद्देश्य पूंजीवाद को समाप्त कर संपूर्ण विश्व में साम्यवाद का प्रसार करना था। ये पश्चिमी देश साम्यवादी रूस को जर्मनी की अपेक्षा अधिक शक्ति की दृष्टि से देखते थे। यही कारण है कि पश्चिमी देश हिटलर को सोवियत रूस पर आक्रमण करने हेतु प्रेरित करते रहे।
- 1945 में माल्टा सम्मेलन में रूजवेल्ट, स्टालिन एवं चर्चिल के बीच संपन्न समझौतों के तहत पोलैंड में सोवियत संघ द्वारा संरक्षित 'लुबनिन शासन' एवं पश्चिमी देशों द्वारा संरक्षित 'लंदन शासन' के स्थान पर स्वतंत्र तथा निष्पक्ष निर्वाचन पद्धति के माध्यम से एक प्रतिनिधि शासन स्थापित करने का महत्वपूर्ण निर्णय लिया गया था। परन्तु, युद्ध का अंत निकट आते ही स्टालिन ने अपनी वचनबद्धता भंग कर दी एवं अमेरिका तथा ब्रिटिश प्रेक्षकों को पोलैंड आने की अनुमति नहीं दी। हंगरी, बुल्गारिया, रोमानिया एवं



चेकोस्लोवाकिया में भी सोवियत संघ द्वारा युद्ध विराम समझौतों एवं याल्टा समझौतों का उल्लंघन किया गया। इतना ही नहीं, सोवियत संघ द्वारा इन सभी देशों में लोकतंत्र की पुनर्स्थापना करने हेतु मित्रराष्ट्रों के साथ सहयोग करने से इनकार कर दिया गया एवं सोवियत संघ समर्थित सरकारें स्थापित कर दी गई। सोवियत संघ द्वारा जापान के विरुद्ध युद्ध में शामिल होने की अनिच्छा एवं उसके द्वारा मित्रराष्ट्रों को साइबेरियाई क्षेत्र में सैन्य युद्धों की सुविधा दिए जाने में हिचकिचाहट से भी सोवियत संघ के प्रति पश्चिमी राष्ट्रों में संदेह उत्पन्न हुआ।

- (iii) द्वितीय विश्वयुद्ध के क्रम में जब हिटलर ने सोवियत संघ को भारी नुकसान पहुंचाया तो स्टालिन ने मित्रराष्ट्रों से अपील की कि नाजी शक्तियों के विरुद्ध दूसरा मोर्चा खोला जाये ताकि सोवियत रूस पर दबाव कम हो सके। परन्तु, स्टालिन की इस अपील को रूजवेल्ट एवं चर्चिल द्वारा लंबे समय तक टाला गया। अतः सोवियत रूस में इसका यही संदेश गया कि यह देरी अमेरिका एवं ब्रिटेन की इस व्यवस्थित योजना का परिणाम थी कि नाजी जर्मनी साम्यवादी शक्ति रूस को पूर्णतः कुचल दे।
- (iv) सोवियत संघ ने अक्टूबर, 1944 में चर्चिल के पूर्वी यूरोप के विभाजन को स्वीकार कर लिया, जिसमें यह निर्धारित किया गया था कि सोवियत संघ का बुल्गारिया एवं रोमानिया में प्रभाव स्वीकार किया जाये तथा यही स्थिति यूनान में ब्रिटेन की स्वीकार की जाये, जबकि हंगरी एवं युगोस्लाविया में सोवियत रूस एवं ब्रिटेन दोनों का ही बराबर प्रभाव माना जाये। परन्तु, स्थिति तब गंभीर होने लगी जब युद्ध समाप्ति के पश्चात् इन देशों में बाल्कन समझौते को नजरअंदाज करते हुए सोवियत संघ ने साम्यवादी पार्टियों को मुक्त सहायता दी एवं वहां 'सर्वहारा की तानशाही' स्थापित करा दी गई। इस स्थिति में सोवियत संघ के प्रति पश्चिमी राष्ट्रों में नाराजगी लाजिमी थी।
- (v) शीत युद्ध का एक प्रमुख कारण जर्मनी का विभाजन तथा सोवियत संघ द्वारा बर्लिन की नाकेबन्दी थी। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् जर्मनी को चार अधिकृत क्षेत्रों में विभक्त कर दिया गया जिसे क्रमशः सोवियत संघ, अमेरिका, ब्रिटेन एवं फ्रांस के कब्जे में रखा गया। बर्लिन को संयुक्त नियंत्रण में रखा गया। जर्मनी के पश्चिमी क्षेत्रों में पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का विकास हुआ जिस पर अमेरिका का व्यापक प्रभाव था। वहीं दूसरी ओर पूर्वी जर्मनी में साम्यवादी बदली हुई स्थिति का परिणाम यह हुआ कि इन महाशक्तियों के मध्य तीव्र तनाव बढ़ा। इतना ही नहीं, 1948 के लंदन प्रोटोकाल का उल्लंघन करते हुए सोवियत संघ ने बर्लिन की नाकेबन्दी कर दी। इससे पश्चिमी देश असंतुष्ट हुए एवं, शीत युद्ध की स्थिति उत्पन्न हुई।
- (vi) सोवियत संघ ने तुर्की पर अपना वर्चस्व स्थापित करने का प्रयत्न किया। इसी क्रम में उसने कुछ भू-भाग एवं बास्फोरस में नौ सैनिक अड्डा का अधिकार जताने के लिए तुर्की पर दबाव देने लगा, परन्तु पश्चिमी राष्ट्र इसके पक्ष में नहीं थे। यह विवादपूर्ण स्थिति शीत युद्ध को भड़काने हेतु पर्याप्त थी।
- (vii) प्रसिद्ध फुल्टन भाषण में चर्चिल ने मार्च, 1946 में इस बात को रेखांकित किया था कि हमें तानाशाही के एक स्वरूप के स्थान पर दूसरे स्वरूप की संस्थापना रोकन चाहिए। उसका यह सुझाव भी था कि साम्यवाद के प्रभाव का सीमित करने के लिए किसी भी माध्यम को अपनाया जाना चाहिए नैतिक या अनैतिक इस भाषण के बाद संपूर्ण अमेरिका में सोवियत विरोधी भावनाएं चरम पर पहुंच गईं।
- (viii) द्वितीय विश्वयुद्ध के क्रम में सोवियत सेना ने ब्रिटेन की सहमति से ईरान पर अधिकार स्थापित कर लिया था। युद्ध की समाप्ति के बाद ब्रिटिश-अमेरिकी सेना ईरान से हटा ली गई जबकि सोवियत संघ ने अपनी सेना हटाने से इनकार कर दिया। हालांकि संयुक्त राष्ट्रसंघ के दबाव में आकर सोवियत ने अपनी सेना हटा ली परन्तु इसमें कोई भी दो राय नहीं कि सोवियत रूस के इस व्यवहार से पश्चिमी शक्तियों की शका में वृद्धि हुई।
- (ix) अमेरिका द्वारा जापान के विरुद्ध किए गए परमाणु बम के प्रयोग ने यह सिद्ध कर दिया कि अमेरिका ने गुप्त रूप से इस विनाशक बम का निर्माण किया था जिसकी सूचना रूस को नहीं थी जबकि कनाडा एवं ब्रिटेन इस स्थिति से वाकिफ थे। अतः अमेरिका के प्रति रूसी मित्रताभाव में दरार आ गई। अतः हम कह सकते हैं कि अमेरिका द्वारा किए गए परमाणु बम के प्रयोग ने न सिर्फ हिरोशिमा एवं नागासकी को बर्बाद किया वरन् युद्धकालीन मित्र राष्ट्रों की मित्रता को भी कमजोर कर दिया।
- (x) सोवियत संघ द्वारा संयुक्त राष्ट्रसंघ में अपने वीटो शक्ति का अधिकाधिक प्रयोग यह सोचकर किया जाता था कि शांति, सुरक्षा एवं विकास के नाम पर संयुक्त राष्ट्र संघ अमेरिकी विदेश नीति का एक अभिन्न

अंग है। सोवियत संघ के मन में अपनी इस शंका तथा उसके अनुरूप किए गए प्रतिक्रिया वाली वीटो की नीतियों के आधार पर पश्चिमी राष्ट्रों ने आलोचना करनी शुरू कर दी। फलतः इस स्थिति ने शीत युद्ध को विशेष रूप से प्रभावित किया। लैंड लीज एक्ट के तहत सोवियत संघ को द्वितीय विश्वयुद्ध के क्रम में मिलने वाली अमेरिकी आंशिक आर्थिक सहायता युद्ध के बाद बन्द कर दी गई, जिसके परिणामस्वरूप भी दोनों शक्तियों में तनाव में वृद्धि हुई। इस तरह से शीत युद्ध को महज शक्ति संतुलन का नवीन संस्करण माना जा सकता है जो द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अस्तित्व में आए दो महाशक्तियों अमेरिका एवं रूस अर्थात् पूंजीवादी एवं समाजवादी शक्तियों के मध्य का शक्ति-संतुलन था।



शीत युद्ध की प्रगति एवं विस्तार (Progress in Cold War and Its Expansion)

पूँजीवादी एवं साम्यवादी शक्तियों का यह शीत युद्ध 1917 से 1989 के बीच विभिन्न चरणों से गुजरते हुए सोवियत संघ के विघटन तक चला जब विश्व की ध्रुवीय सत्ता का केन्द्र संयुक्त राज्य अमेरिका के रूप में स्थापित हुआ। शीत युद्ध के दौर को हम निम्नलिखित चरणों में देख सकते हैं-

प्रथम चरण-1917-45 (First Phase 1917-45)

शीत युद्ध के प्रथम चरण की शुरुआत मूलतः रूस में 1917 में सफल बोलशेविक क्रांति से मानी जाती है। इस क्रांति ने एक नवीन विचारधारा के रूप में साम्यवाद को स्थापित किया। इसके साथ ही विचारधाराओं के संघर्ष के रूप में शीत युद्ध आरंभ हुआ। रूस में साम्यवादी शासन की स्थापना पर पूँजीवादी राज्यों ने एक तरह से आपत्ति जताई और इस रूप में विश्व दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं अथवा गुटों में विभक्त हो गया। यह शीत युद्ध का शुरुआती दौर था एवं यह अपने उग्र रूप में इसलिए नहीं आ पाया कि इस समय तक सोवियत संघ एक सबल राष्ट्र के रूप में स्थापित नहीं हुआ था जबकि ब्रिटेन, अमेरिका आदि सबल देश थे। हालांकि 1924 में ब्रिटेन एवं 1933 में संयुक्त राज्य अमेरिका ने सोवियत रूस को मान्यता दे दी परन्तु इसके बावजूद भी रूस अपेक्षाकृत निर्बल ही रहा।

द्वितीय चरण-1946-53 (Second Phase 1946-53)

इस चरण में शीत युद्ध का स्पष्ट रूप सामने आया। यह स्थिति तब आई जब सोवियत संघ एवं पश्चिमी राष्ट्रों के मध्य संयुक्त राष्ट्र संघ के अंतर्गत महत्त्व के विभिन्न विषयों पर व्यापक वाद विवाद तथा कूटनीतिक संघर्ष का अनवरत सिलसिला शुरू हुआ। इस अवधि में घटित कुछ महत्वपूर्ण घटनाओं ने शीत युद्ध के लिए उत्प्रेरक का काम किया। ये घटनाएं निम्नलिखित थीं-

(क) **चर्चिल का फुल्टन भाषण:** ब्रिटिश प्रधानमंत्री चर्चिल ने अमेरिका के फुल्टन नगर में मार्च 1946 में अपने भाषण में जोर देकर कहा कि सोवियत संघ ने यूरोप में पूर्व एवं पश्चिम के बीच एक प्रकार का लौह आवरण लगा दिया है जिसके कारण यह है कि सोवियत वर्चस्व वाले देशों की घटनाओं का विश्व के अन्य देशों को कोई जानकारी नहीं मिल सके और साथ सोवियत वर्चस्व वाले देशों की जनता विश्व की घटनाओं से अनभिज्ञ बनी रहे। उसने इस बात को रेखांकित किया था कि "हमें तानाशाही के एक स्वरूप के स्थान पर उसे दूसरे स्वरूप की संस्थापना रोकनी चाहिए।" चर्चिल के इस भाषण में विशेष रूप से सोवियत कार्यवाही को लोकतंत्र एवं स्वतंत्रता हेतु गंभीर खतरा बताया गया। अतः इस संभावित खतरे का सामना करने हेतु आंग्ल-अमेरिका गठबंधन की आवश्यकता पर जोर दिया गया। इस भाषण के फलस्वरूप संपूर्ण अमेरिका में सोवियत विरोधी भावना ने जोर पकड़ लिया। चर्चिल के इस प्रसिद्ध फुल्टन भाषण को शीत युद्ध के आरंभ का सूचक माना जाता है।

(ख) **ट्रूमैन सिद्धांत:** अमेरिकी राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अपने प्रसिद्ध भाषण में यह घोषित किया था कि वह साम्यवादी प्रसार पर अंकुश लगाएंगे तथा अमेरिका की यह नीति होगी कि जहां कहीं भी शांति भंग करने वाला प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष आक्रामक कार्य होगा और अमेरिका की सुरक्षा संकट में मानी जाएगी तो उसे रोकने हेतु समग्र प्रयास किया जाएगा। साथ ही उन्होंने इस बात की भी घोषणा की कि अमेरिका उन लोगों की सहायता करेगा जो सशास्त्र अल्पसंख्यकों या बाहरी दबाव के कारण अधीनता का जीवन बिता रहे हैं।

ट्रूमैन का यह निर्णय मुख्यतः यूनान, तुर्की, ईरान आदि देशों को साम्यवादी खेमे में जाने से बचाने के लिए ही लिया गया था। इसी परिप्रेक्ष्य में तत्काल ही यूनान को बड़ी मात्रा में अस्त्र शस्त्र एवं अन्य आवश्यक सामग्री की आपूर्ति की गई। ट्रूमैन सिद्धांत के तहत लोगों के आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को मान्यता दी गई थी। अर्थात् ट्रूमैन सिद्धांत अमेरिका द्वारा आर्थिक एवं सैन्य सहायता के माध्यम से साम्यवाद के प्रसार को सीमित करने की एक व्यापक रणनीति थी।



(ग) **मार्शल योजना:** मार्शल योजना राज्य सचिव जॉर्ज.सी. मार्शल द्वारा जून, 1947 में हार्वर्ड विश्वविद्यालय को संबोधित किया गया एक प्रस्ताव था जो मूलतः ट्रूमैन सिद्धांत के आर्थिक विचार की प्रतिलिपि थी। अमेरिकी सहायता का प्रस्ताव रखते हुए मुख्य रूप से उसने यूरोप के आर्थिक संकट की ओर ध्यान केंद्रित किया। उसका यह पक्का विश्वास था कि अमेरिका युद्ध से प्रभावित देशों के स्थायित्व में सहायता कर सकता है। मार्शल योजना का औपचारिक उद्देश्य यूरोप के आर्थिक पुनर्निर्माण को बढ़ावा देना था परन्तु उसका वास्तविक उद्देश्य राजनीति से प्रेरित था एवं पश्चिमी यूरोप में साम्यवाद के नियंत्रण को वह कमजोर बनाना चाहता था। इस प्रस्ताव पर यूरोपीय प्रतिक्रिया अत्यंत ही उत्साहजनक थी। इस प्रस्ताव के आलोक में 1948 में एक योजना बनी, जब यूरोपीय पुनर्निर्माण कार्यक्रम अस्तित्व में आया। इसमें 16 यूरोपीय देशों ने अमेरिकी सहायता प्राप्त करने हेतु संयुक्त योजना में भाग लिया। हम कह सकते हैं कि सोवियत-अमेरिकी रणनीतियां जनता की मनोवृत्ति पर काबू पाने हेतु अग्रसर हुईं। तृतीय विश्व के देशों में विकासशील देशों को अमेरिकी विदेशी सहायता देने की प्रक्रिया 1949 में तकनीकी सहायता से संबंधित प्वाइंट-IV कार्यक्रम के साथ ही शुरू हुई। इसकी अगली कड़ी 1950 तथा 60 के दशक में सामने आई जब विकास अनुदान एवं ऋण के साथ-साथ सैन्य सहायता भी इसमें सम्मिलित की गयी।

(घ) **बर्लिन की नाकेबन्दी एवं जर्मनी का विभाजन:** 1948 में सोवियत संघ द्वारा बर्लिन की नाकेबन्दी ने शीत युद्ध को चरमोत्कर्ष पर पहुंचा दिया। विश्वयुद्ध की समाप्ति के पश्चात् फरवरी, 1945 के माल्टा सम्मेलन एवं जुलाई 1945 के पोर्टस्डैम सम्मेलन में यह निश्चय किया गया था कि जर्मनी एवं बर्लिन दोनों को चार क्षेत्रों में विभक्त किया जाएगा। वस्तुतः बर्लिन का प्रशासन चार शक्तियों सोवियत संघ, अमेरिका, ब्रिटेन एवं फ्रांस द्वारा संयुक्त रूप से चलाया जा रहा था और इस रूप में बर्लिन की स्थिति शेष जर्मनी से अलग थी। 1947 में एक महत्वपूर्ण निर्णय के तहत पश्चिमी क्षेत्र को मार्शल योजना का लाभ मिलने संबंधी बात तय की गई। 1948 में अमेरिका, ब्रिटेन एवं फ्रांस के नियंत्रण वाले क्षेत्र का एकीकरण हुआ जो आर्थिक दृष्टि से संपन्न था जबकि रूस के अधीन पूर्वी क्षेत्र विपन्नता की स्थिति में थे। अब स्टालिन ने बर्लिन में पश्चिमी नीतियों को पोर्टस्डैम संधि का अतिक्रमण समझना शुरू कर दिया। स्टालिन ने इस संबंध में यह घोषणा की कि बर्लिन से पश्चिमी शक्तियों का निष्कासन उसका परम उद्देश्य है। अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति के क्रम में उसने बर्लिन की नाकेबन्दी कर दी। हालांकि कठोर अमेरिकी नीति से दबाव में आकर रूस ने बर्लिन पर से नाकेबन्दी हटा ली। इस प्रक्रिया की महत्वपूर्ण कड़ी थी- जर्मनी का दो भागों में विभाजन यथा पूंजीवादी गुट समर्थक पश्चिमी जर्मनी एवं साम्यवादी समर्थक पूर्वी जर्मनी। अगस्त, 1949 में पश्चिमी जर्मनी संघीय गणराज्य के नाम से तथा पूर्वी जर्मनी अक्टूबर, 1949 में जर्मन प्रजातांत्रिक गणराज्य के रूप में सामने आए। अतः बर्लिन की नाकेबन्दी जैसी घटनाओं ने शीत युद्ध को विशेष रूप से तूल दिया।

(ङ) **नाटो की स्थापना:** यह एक सैन्य संगठन था जिसका निर्माण 1949 में संयुक्त राज्य अमेरिका के नेतृत्व में हुआ था। उत्तरी अटलांटिक संधि में इस बात पर स्पष्ट रूप से जोर दिया गया था कि यूरोप का उत्तर अमेरिका के किसी एक अथवा अनेक देशों के विरुद्ध किया गया आक्रमण सामूहिक रूप से इस संधि में शामिल सभी देशों के विरुद्ध माना जाएगा एवं संधि में शामिल सभी सदस्य देश सामूहिक रूप से आवश्यक कदम उठाएंगे। इसे हम इस रूप में भी कह सकते हैं कि सोवियत संघ के विरुद्ध यह एक चेतावनी थी।

(च) **चीन में साम्यवादी शासन की स्थापना:** माओत्से-तुंग के नेतृत्व में चीन में 1 अक्टूबर 1949 को साम्यवादी शासन की स्थापना से शीत युद्ध में गर्माहट आ गई। चीन में साम्यवादियों की विजय से सोवियत संघ का मनोबल काफी बढ़ गया। हालांकि संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में चीन को सुरक्षा परिषद् की स्थायी सदस्यता मिली हुई थी परन्तु जब साम्यवादी नेतृत्व वाले चीन ने महासभा एवं सुरक्षा परिषद् में अपनी



सदस्यता की मांग की तो अमेरिका द्वारा इसका विरोध किया जाना लाजिमी था। वह नहीं चाहता था कि संयुक्त राष्ट्र संघ में सोवियत संघ का और कोई समर्थक सम्मिलित हो। चीनी सदस्यता के इस मुद्दे पर भीषण प्रतिक्रिया हुई तथा सोवियत संघ ने सुरक्षा परिषद् की बैठकों का बहिष्कार किया। अतः हम कह सकते हैं कि संयुक्त राष्ट्र संघ में साम्यवादी चीन की सदस्यता के मुद्दे पर अमेरिका एवं रूस के मध्य जबर्दस्त कटुता उत्पन्न हुई।

(छ) **कोरियाई युद्ध:** 1950 में उत्तर कोरिया ने दक्षिण कोरिया पर आक्रमण कर दिया। यह युद्ध पश्चिमी पूंजीवादी गुट एवं साम्यवादियों के मध्य का युद्ध था क्योंकि उत्तर कोरिया में साम्यवादी सरकार थी। अमेरिकी सक्रियता की वजह से संयुक्त संघ ने उत्तर कोरिया के इस कृत्य की निंदा की एवं उसे आक्रमणकारी घोषित किया। इतना ही नहीं अमेरिका के नेतृत्व में अनेक देशों की सेना ने दक्षिण कोरिया की तरफ से हस्तक्षेप किया। इस संघर्ष में चीनी एवं सोवियत सहयोग से उत्तर कोरिया लड़ रहा था एवं संयुक्त राष्ट्र की सेना के नाम पर अमेरिका दक्षिण कोरिया की ओर से था। यद्यपि 1953 में कोरिया युद्ध तो समाप्त हो गया परन्तु शीत युद्ध की तीव्रता बढ़ती गई। इसके अलावा सितंबर, 1957 में अमेरिका एवं अन्य पश्चिमी देशों ने जापान के साथ शांति संधि पर हस्ताक्षर किए जिसे सोवियत संघ ने एकपक्षीय करार दिया एवं अमेरिका की तीव्र भर्त्सना की।

तीसरा चरण-1953-58 (Thrid Phase-1953-58)

शीत युद्ध के इस चरण में अमेरिका एवं रूस में राजनीतिक नेतृत्व क्रमशः आइजनहॉवर एवं खुश्चेव के हाथों में आया। स्टालिन के उत्तराधिकारी खुश्चेव के समय में इस बात की संभावना व्यक्त की जा रही थी कि खुश्चेव की शांतिपूर्ण सहअस्तित्व एवं समझौतावादी नीतियों के कारण शीत युद्ध में नया मोड़ आ सकता है, परन्तु यह संभावना निर्मूल साबित हुई।

इस अवधि में सोवियत संघ द्वारा पहली बार परमाणु परीक्षण किया गया। अतः इस स्थिति ने परमाणु क्षेत्र में रूस को अमेरिका के समकक्ष बना दिया। स्वाभाविक रूप से अमेरिका समर्थित पूंजीवादी शक्तियां सुरक्षा को लेकर चिंतित हो उठी। अतः इस स्थिति में दोनों महाशक्तियों में घातक परमाणु शस्त्रों के आविष्कार का होड़ शुरू हो गया।

शीत युद्ध की इस अवधि में दक्षिण-पूर्वी एशिया के हिंदचीन क्षेत्र (वियतनाम, कंबोडिया, लाओस) में दोनों महाशक्तियों ने गहरी दिलचस्पी ली एवं अपनी-अपनी समर्थन वाली सरकारें स्थापित करने के प्रयास में जुट गईं। फ्रांसीसी साम्राज्यवाद के विरुद्ध चलने वाले संघर्ष में दोनों गुटों ने अलग-अलग पक्षों का समर्थन किया। 1954 में हुए वियतनाम के विभाजन के फलस्वरूप उत्तरी एवं दक्षिणी वियतनाम सामने आया। उत्तरी वियतनाम पर सोवियत प्रभाव तो दक्षिणी वियतनाम पर अमेरिकी प्रभाव स्थापित था। अतः परोक्ष रूप से सोवियत संघ एवं अमेरिका के मध्य संघर्ष का सिलसिला शुरू हुआ।

तीसरी दुनिया के देशों में साम्यवाद का प्रसार रोकने हेतु अमेरिका ने 'सीटो' नामक सैन्य समझौतों को परिवर्तित कर दिया। इन समझौतों के अंतर्गत सदस्य देशों को सैनिक एवं अन्य प्रकार के सुरक्षा की गारंटी दी गई। इसके प्रत्युत्तर में सोवियत संघ द्वारा 1955 में पूर्वी एशियाई देशों को साम्यवादी प्रतिरक्षा समझौता (वारसा पैक्ट) में शामिल कर सैन्य एवं अन्य प्रकार की सुरक्षा की गारंटी दी गई। वास्तव में इन सैन्य गुटों के कारण शीत युद्ध और भी उग्र होता गया। इसी समय अमेरिकी राष्ट्रपति आइजनहॉवर ने घोषणा की कि अमेरिकी राष्ट्रपति को पश्चिम एशिया के किसी भी देश में साम्यवादी विस्तार को रोकने हेतु अपनी इच्छानुसार सैन्य कार्रवाई करने का अधिकार होगा ताकि ब्रिटिश सत्ता की कमी के कारण मध्यपूर्व के देशों में जो एक शून्य की स्थिति उत्पन्न हो गई थी उसे पाटा जा सके। यह घोषणा इस सिद्धांत पर आधारित थी कि यदि इस क्षेत्र की शून्यता को अमेरिका नहीं भर पाया तो सोवियत संघ उसे भरने का प्रयास करेगा। अतः इसकी परिणति यह हुई कि सामरिक महत्त्व के पश्चिम एशियाई क्षेत्र एवं तेल कुओं पर अपनी प्रभुता स्थापित करने के लिए अमेरिका एवं रूस दोनों ने एक-दूसरे के विरुद्ध कुटनीतिक चालें चली।

शीत युद्ध की इस अवधि में स्वेज संकट भी गंभीर रूप से चर्चा का विषय बना। 1956 में स्वेज नहर की राष्ट्रीय समस्या की प्रतिक्रिया में फ्रांस एवं ब्रिटेन ने मिस्र पर हमला कर दिया हालांकि इस हमले में अमेरिका ने फ्रांस एवं ब्रिटेन का साथ नहीं दिया परन्तु फिर भी शीत युद्ध में गर्माहट आ गई क्योंकि हमला तो मित्रराष्ट्रों के द्वारा ही किया गया था।

चतुर्थ चरण - 1959-62 (Fourth Phase - 1959-62)

शीत युद्ध के इस चरण में खुश्चेव की अमेरिकी यात्रा, तत्पश्चात् विकसित हुए 'कैम्प डेविड की भावना के परिणामस्वरूप दोनों देशों के मध्य शीत युद्ध में शिथिलता के आसार दिखाई देने लगे। इस यात्रा के फलस्वरूप यह बात तय हुई कि 16 मई, 1960 से पेरिस में एक शिखर सम्मेलन का आयोजन किया जाएगा, जिसमें शस्त्रीकरण की बात निश्चित की जाएगी। परन्तु 1 मई, 1960 को यू-2 विमान कांड की घटना ने कैम्प डेविड की भावना पर पानी फेर दिया। यह एक अमेरिकी जासूसी विमान था जो सोवियत संघ की सीमा में जासूसी करते हुए पकड़ा गया था। इस घटना ने शीत युद्ध में तूफान ला दिया। इतना ही नहीं, विमान कांड की इस घटना ने पेरिस शिखर सम्मेलन की असफलता को निश्चित कर दिया। जब यह सम्मेलन शुरू हुआ तो खुश्चेव ने यू-2 विमान का मामला उठाया। अंततः इस मुद्दे पर हुए गर्माहट एवं तनातनी के माहौल में सम्मेलन की कार्यवाही बन्द करनी पड़ी।

शीत युद्ध की इस अवधि में उत्पन्न क्यूबाई संकट ने दोनों महाशक्तियों के मध्य तनाव को और भी बढ़ा दिया। दक्षिणी अमेरिकी देश क्यूबा, जहां 1958 में क्यूबा क्रांति के फलस्वरूप डॉ. फिडेल कास्त्रो के नेतृत्व में अमेरिका समर्थित फुल्गेकियो बतिस्ता की सत्ता उखाड़ दी गई एवं वहां साम्यवादी शासन स्थापित हुआ। फिडेल कास्त्रो के नेतृत्व में स्थापित साम्यवादी सरकार का सोवियत संघ के साथ घनिष्ठ संबंध था। वास्तव में यह स्थिति अमेरिका हेतु चिंता का विषय थी। सोवियत सहयोग से क्यूबा में सैन्य अड्डे स्थापित हुए जहां रॉकेट, मिसाइल आदि शस्त्रास्त्र रखे गए। अतः इस स्थिति में अमेरिका को अपने निकट स्थित क्यूबा की ओर से सुरक्षा के खतरे को समझकर 22 अक्टूबर 1962 को क्यूबा की नाकबन्दी की घोषणा करनी पड़ी। इस स्थिति में सोवियत संघ ने मामले की गंभीरता को देखते हुए सैनिक अड्डा हटाने संबंधी नियमों की घोषणा कर दी। वास्तव में इस क्यूबाई संकट के संबंध में अमेरिकी राष्ट्रपति केनेडी की यह टिप्पणी अत्यंत महत्वपूर्ण है कि यदि रूस ऐसा निर्णय नहीं लेता अर्थात् क्यूबा से सैनिक अड्डा नहीं हटाता तो क्यूबा संकट तृतीय विश्वयुद्ध का कारण बन सकता था।

पांचवां चरण-1963-79 (Fifth Phase - 1963-79)

शीत युद्ध के इस चरण में विशेष रूप से दोनों महाशक्तियों के मध्य तनाव में शिथिलता के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे। इस हेतु विभिन्न घटनाएं विशेष महत्व की साबित हुईं क्यूबाई संकट महाशक्तियों के लिए एक बड़ा झटका था परन्तु 20 जून, 1963 को जेनेवा में सम्पन्न सोवियत अमेरिकी समझौता के तहत मास्को वाशिंगटन के मध्य 'हॉट लाइन' सेवा प्रारंभ करने की बात तय हुई। इस सीधे संपर्क का उद्देश्य यह था कि किसी भी द्विपक्षीय अथवा अंतर्राष्ट्रीय संकट की स्थिति में दोनों महाशक्तियों के मध्य गलतफहमी के कारण उत्पन्न टकराव टाला जा सके। इसके अतिरिक्त, 1963 में ही मास्को में रूस, अमेरिका एवं ब्रिटेन ने परमाणु परीक्षण प्रतिबंध संधि (NTBT) पर हस्ताक्षर किया एवं सभी पक्ष कुछ सीमा तक शस्त्र नियंत्रण की दिशा में अग्रसर हुए। इतना ही नहीं इस अवधि में 1968 में रूस, अमेरिका एवं ब्रिटेन ने मिलकर अन्य देशों के साथ परमाणु अग्रसार संधि (NPT) पर भी हस्ताक्षर किया। यह वह संधि थी जिसके अनुसार परमाणु शस्त्र सम्पन्न देशों द्वारा परमाणु शस्त्रविहीन देशों को परमाणु हथियार प्राप्त करने में किसी प्रकार की सहायता नहीं देने की बात तय हुई। एक और घटना इस अवधि में घटित हुई। वह यह थी कि 1972 में दो जर्मन राज्यों का सिद्धांत स्वीकार किया गया एवं 1973 में दोनों जर्मनी यथा-पूर्वी एवं पश्चिमी जर्मनी को संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता भी मिल गई।

तनाव शैथिल्य की इस स्थिति में यद्यपि कुछ तनाव की घटनाएं भी घटीं जैसे- भारत पाक युद्ध (1965-71), 1967 का अरब इजरायल युद्ध तथा नवस्वतंत्र अफ्रीकी देशों के टकराव की घटनाएं सामने आईं।

छठा चरण एवं नवशीत युद्ध - 1980-89

(Sixth Phase and Neo Cold War - 1980-89)

शीत युद्ध के इस चरण में जो बातें उभरकर सामने आईं वे यह थीं कि अमेरिकी राष्ट्रपति रीगन के सत्ता में आते ही अमेरिकी शस्त्र उद्योग को प्रोत्साहन देने, मित्रराष्ट्रों में शस्त्रीकरण को पुनः तेज करने, शस्त्रों की होड़





में वृद्धि एवं सोवियत संघ के प्रति कठोर नीति अपनाने संबंधी घोषणा के साथ ही शीत युद्ध नए रूप में सामने आया। युद्ध के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार के संघर्ष माध्यम इस चरण की विशेषताएं थीं। यह चरण नवशीत युद्ध के नाम से जाना जाता है। इस शीत युद्ध से पहले के शीत युद्ध से कुछ मूलभूत अंतर थे जैसे- पहले के शीत युद्ध में सैद्धांतिक अथवा वैचारिक पक्ष विशेष महत्वपूर्ण था जबकि नए शीत युद्ध के टकराव में यह स्थिति नहीं रही। वस्तुतः प्रथम चरण में विशेष रूप से द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अंतर्राष्ट्रीय संकट यूरोप पर केन्द्रित था जबकि 1978 के पश्चात् संघर्ष के लगभग सभी अवसर एशिया, अफ्रीका एवं लैटिन अमेरिका देशों में दृष्टिगोचर हुए। नवशीत युद्ध के पूर्व अर्थात् पुराने शीत युद्ध के समय में दोनों महाशक्तियों के मध्य तनाव तथा टकराव को कम करने एवं शांति को विस्तृत करने के उद्देश्य से गुटनिरपेक्ष आंदोलन का आविर्भाव हुआ। परन्तु नवशीत युद्ध के आरंभ में गुटनिरपेक्ष आंदोलन में दरारें पैदा हो गईं। मानवाधिकारों की रक्षा संबंधी नीतियां अमेरिकी विदेश नीति का महत्वपूर्ण अंग बनीं। नवशीत युद्ध के क्रम में सोवियत-चीन टकराव ने साम्यवादी गुट में दरार पैदा कर दी। नवशीत युद्ध काल में 1979 में अफगान संकट, कंबोडियाई संकट, ईरान-इराक युद्ध (सितंबर, 1982), मध्य अमेरिकी संकट, राज्य आतंकवाद एवं अंतरिक्ष युद्ध संबंधी अंतर्राष्ट्रीय घटनाएं विशेष महत्व रखती हैं।

दिसंबर, 1979 में अफगानिस्तान में सोवियत सैन्य हस्तक्षेप के पश्चात् अमेरिकी राष्ट्रपति जिमी कार्टर द्वारा गंभीर प्रतिक्रियाएं व्यक्त की गईं। अफगान क्षेत्र में सोवियत हस्तक्षेप को राष्ट्रपति कार्टर द्वारा शांति के लिए गंभीर खतरा घोषित किया गया। सोवियत सैन्य हस्तक्षेप की तीव्रता से परेशान होकर भारी संख्या में अफगान शरणार्थी पाकिस्तान में प्रवेश करने लगे। इस विकट स्थिति में अमेरिका द्वारा भी हस्तक्षेप किया गया। भारी मात्रा में सैन्य, आर्थिक एवं मनोवैज्ञानिक सहयोग देकर अमेरिका ने पाकिस्तान को आधार बनाकर अफगान क्षेत्र की स्थिति को संभालने की कोशिश की। इन कारणों से दोनों महाशक्तियों के मध्य तनाव निरंतर बना रहा।

वियतनाम युद्ध के अंतिम चरण में कंबोडियाई सत्ता पर से सिहानुक के अपदस्थ होने के पश्चात् वियतनामी सेना ने 1979 में कंबोडिया पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया फलतः यह एक ऐसी घटना थी जिसने सोवियत समर्थन से चीन के साथ मुठभेड़ हेतु वियतनाम की तत्परता को जाहिर किया। वास्तव में कंबोडिया की इस घटना से क्षेत्रीय शक्ति समीकरण बिगड़ने की संभावना बढ़ रही थी। फलतः अमेरिकी हस्तक्षेप से अमेरिकी-सोवियत तनाव में वृद्धि हुई।

नवशीत युद्ध के इस कालक्रम में ईरान-इराक युद्ध (1980-88) का विशेष महत्व है। शत-अल-अरब जलराशि के मुद्दे पर भूमि विवाद, शिया-सुन्नी संघर्ष, खुमैनी-सद्दाम हुसैन के व्यक्तियों का टकराव आदि जैसे तत्व ईरान एवं इराक के बीच संघर्ष के मूल कारण थे। इस युद्ध में दोनों महाशक्तियों ने भारी मात्रा में शस्त्रों की आपूर्ति का अधिकतम मुनाफा कमाया। तेल उत्पादन में समृद्ध इस क्षेत्र पर अपना व्यापक प्रभाव स्थापित करने के क्रम में दोनों महाशक्तियों के बीच टकराव को बढ़ावा मिला।

यद्यपि नवशीत युद्ध के इस चरण में देतांत (तनाव-शैथिल्य) में कमी आई एवं महाशक्तियों के आपसी संबंध विशेष रूप से प्रभावित हुए। महाशक्तियों के आक्रामक तेवर में वृद्धि हुई, शस्त्रों की होड़ एवं प्रत्यक्ष मुठभेड़ की प्रवृत्ति में वृद्धि हुई।

1985-91 की अवधि शीत युद्ध की समाप्ति की दृष्टि से सोवियत अमेरिकी संबंध में ऐतिहासिक अवधि समझी जाती है। 1981 में अमेरिकी राष्ट्रपति के रूप में रीगन के सत्ता में आते ही अमेरिका प्रतिष्ठा में गिरावट आने लगी थी। इसका कारण यह था कि वियतनाम में अमेरिकी को असफलता मिल रही थी एवं अंगोला से तो अमेरिकी प्रभाव पूर्णतः समाप्त हो चुका था। उधर सोवियत संघ भी नाजुक दौर से गुजर रहा था। मई, 1985 में सोवियत रूस में मिखाइल गोर्बाचोव के सत्ता में आने तथा उसकी ग्लासनोस्त एवं पेरेस्ट्रोइका की नीतियों ने सोवियत राजनीति में भूचाल ला दिया। अंततः सोवियत संघ का 1991 में विखंडन हो गया। वास्तव में यह एक ऐसी घटना थी जिसने महाशक्ति के रूप में सोवियत संघ का प्रभावहीन बना दिया यह शीत युद्ध की समाप्ति की घोषणा थी। तत्कालीन समय में एकध्रुवीय विश्व के रूप में अमेरिका का वर्चस्व कार्य में रह गया। परन्तु इसे भी स्वीकारा जाना चाहिए कि कई क्षेत्रीय संगठनों तथा अनेक देशों की आर्थिक एवं सैन्य शक्ति में वृद्धि के फलस्वरूप शक्ति के विभिन्न केन्द्र उभरकर सामने आए हैं।



12. संयुक्त राष्ट्र संघ



द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् लीग ऑफ नेशन्स (राष्ट्र संघ) को विस्थापित कर एक नवीन संस्था संयुक्त राष्ट्र संघ को स्थापित किया गया। 24 अक्टूबर 1945 को 51 देशों ने संयुक्त राष्ट्र संघ के मसविदा पर हस्ताक्षर किये और फिर संयुक्त राष्ट्र संघ अस्तित्व में आया। संयुक्त राष्ट्र संघ न केवल पूर्वकाल के यूरोपीय कांग्रेस (वियना तथा बर्लिन) वरन् राष्ट्र संघ से भी अपने स्वरूप में पृथक् था। जैसा कि हम जानते हैं कि वियना एवं बर्लिन कांग्रेस साम्राज्यवादी नीतियों को लागू करने के लिए अधिकृत किया गया था। वहीं राष्ट्र संघ कुल मिलाकर एक यूरोपीय क्लब ही बनकर रह गया था जबकि संयुक्त राष्ट्र संघ अपने उद्देश्य तथा आधार में बहुत हद तक जनतांत्रिक था। यद्यपि इस संस्था में पश्चिम के पूंजीवादी देशों का वर्चस्व बना रहा है फिर भी इसमें एशिया, अफ्रीका, तथा लैटिन अमेरिका के नव स्वतंत्र देशों को भी प्रतिनिधित्व प्राप्त है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के मुख्यतः 6 अंग हैं, ये इस प्रकार हैं:-

1. जनरल असेम्बली
2. सुरक्षा परिषद्
3. आर्थिक एवं सामाजिक परिषद्
4. न्यास परिषद्
5. सचिवालय
6. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय

उपर्युक्त अंगों में सुरक्षा परिषद् सबसे महत्वपूर्ण अंग है। सम्भवतः सुरक्षा परिषद् की अवधारणा राष्ट्र संघ की विफलता से सबक लेकर विकसित हुई। जैसा कि हम जानते हैं कि राष्ट्र संघ के अन्तर्गत असेम्बली और कौंसिल दोनों को समान शक्ति दी गयी थी तथा कौंसिल का निर्णय सदस्य देश पर बाध्यकारी नहीं था। यह तथ्य राष्ट्र संघ की विफलता का एक महत्वपूर्ण कारण बन गया। अतः संयुक्त राष्ट्र संघ में सुरक्षा परिषद् जैसी एक निकाय स्थापित की गई जिसका निर्णय सदस्य देशों के लिए बाध्यकारी बनाया गया। सुरक्षा परिषद में कुल 15 सदस्य होते हैं- 5 स्थायी एवं 10 अस्थायी। 5 स्थायी सदस्यों को वीटो की शक्ति प्राप्त है। किसी भी निर्णय के लिए 9 सदस्य देशों का अनुमोदन आवश्यक है, जिसमें 5 स्थायी सदस्यों का अनुमोदन बिल्कुल ही अनिवार्य बना दिया गया है। अगर एक दृष्टि से देखा जाये तो संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना में राज्यों की समानता की अवधारणा के साथ महाशक्तियों के विशेषाधिकार की अवधारणा को भी स्वीकार किया गया क्योंकि यथार्थवादी दृष्टिकोण का यह मानना था कि संयुक्त राष्ट्र संघ के सफल संचालन के लिए महत्वपूर्ण शक्तियों का सक्रिय समर्थन आवश्यक है। सुरक्षा परिषद के दायित्व बहुआयामिक हैं। वह कई बातों की अनुशंसा करता है, उदाहरण के लिए किसी नये सदस्य को यू.एन.ओ. में शामिल करना, किसी सदस्य का निष्कासन, दो देशों के बीच विवाद निपटारे का प्रयास और इसके लिए वह यू. एन. ओ. की महासभा के देशों की समस्या की पड़ताल करने की अनुशंसा करता है, फिर युद्ध छिड़ने की स्थिति में वह युद्ध बन्द करने के निर्णय को लागू करने का प्रयास करता है।

यदि हम यू. एन. ओ. की उपलब्धियों पर दृष्टिपात करते हैं तो विभिन्न क्षेत्रों में इसकी उपलब्धि रही है, उदाहरण के लिए कुछ महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं यथा-कोरिया संकट, कांगों संकट आदि के निपटारे में इसने महत्वपूर्ण सफलता पाई है। दूसरे, इसने मानवाधिकारों के मुद्दे को अत्यधिक प्रोत्साहन दिया। तीसरे, विउपनिवेशीकरण (उपनिवेश मुक्ति) की दिशा में इसे व्यापक प्रगति मिली और फिर 1990 तक अन्तिम उपनिवेश नामीबिया भी स्वतंत्र हो गया। इसके अतिरिक्त स्वास्थ्य व मानव कल्याण के मोर्चे पर इसे अत्यधिक सफलता मिली। इसने चेचक तथा पोलियो जैसी बीमारी को समाप्त करने में सफलता पाई। आज भी यू.एन. ओ. के अंतर्गत विश्व स्वास्थ्य संगठन (W.H.O) कई प्रकार के टीकाकरण को प्रोत्साहन दे रहा है एवं एड्स जैसी बीमारी के रोकथाम के लिए प्रयासरत है। अन्त में, यू.एन.ओ. की महत्वपूर्ण उपलब्धि शरणार्थियों के पुनर्वास के क्षेत्र में भी देखी जा सकती है। फिर वर्तमान में साईबर सेक्यूरिटी तथा इंटरनेट समझौते में संयुक्त राष्ट्र संघ एक बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

फिर भी यू.एन.ओ. अब तक अपने वास्तविक उद्देश्य को प्राप्त करने में सफल नहीं रहा है। जब इस संस्था की स्थापना हुई तब इससे कहीं अधिक उम्मीद की जा रही थी किंतु राजनीतिक मोर्चे पर यह तुलनात्मक रूप



से विफल रही। इसके दो महत्वपूर्ण कारण हैं, प्रथम, कुछ सदस्य देशों के पास वीटो शक्ति का होना, इस कारण से लगभग सम्पूर्ण शीत युद्ध के काल में यह संस्था लकवाग्रस्त बनी रही। दूसरे यू.एन.ओ. के पास अधिकार काल में आर्थिक फण्ड का अभाव रहा तथा इसे व्यापक आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा।

अब जहां तक यू.एन.ओ. का वर्तमान विश्व में प्रासंगिकता का सवाल है तो हम ऐसा कह सकते हैं कि यह आज भी प्रासंगिक है। आर्थिक व सांस्कृतिक क्षेत्र में इसकी प्रासंगिकता अपेक्षाकृत अधिक दिखती है परन्तु राजनीतिक क्षेत्र में भी इसकी प्रासंगिकता समाप्त नहीं हुई है। यद्यपि यह सही है कि कुछ अन्तर्राष्ट्रीय मसलों का समाधान लाने में यह विफल रहा, उदाहरण के लिए वर्तमान ईराक युद्ध में अमेरिका ने यू.एन.ओ. की अवमानना कर दी लेकिन इस कारण से अमेरिका का यह कदम अवैध हो गया। यह तथ्य दर्शाता है कि राजनीतिक क्षेत्र में भी इस संस्था की अहमियत बनी हुई। किन्तु इस संस्था को गतिशील बनाने के लिए सुधारों की आवश्यकता है। इसमें कोई शक नहीं कि यू.एन.ओ. 1945 की विश्व व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करता है जबकि 2014 तक स्थिति बहुत हद तक बदल चुकी है। 20वीं सदी यूरोप और अमेरिका की थी 21वीं सदी एशिया की है। अतः भारत व जापान जैसी महत्वपूर्ण शक्ति को जनरअंदाज नहीं किया जा सकता। उसी प्रकार अफ्रिका महादेश में दक्षिण अफ्रिका तथा नाईजीरिया एवं लैटिन अमेरिका में ब्राजील को अपेक्षित स्थान दिये जाने की जरूरत है। इसके लिए इस संस्था को और अधिक प्रजातांत्रिक बनाना होगा। या तो वीटो शक्ति को पूरी तरह समाप्त कर दिया जाय या तो इसे अधिक सन्तुलित करने के लिए वीटो शक्ति का विस्तार हो। इसी प्रकार यू.एन.ओ. के लिए बेहतर ढंग से आर्थिक फंड को संग्रहित करने की जरूरत है। इसके अतिरिक्त आई.एम.एफ., आई.बी.आर.डी. जैसी वित्तीय संस्थाओं को यू.एन.ओ. के नियंत्रण में काम करने का प्रावधान हो ताकि इनके पक्षपातपूर्ण रवैये पर पाबन्दी लगाई जा सके।

संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्तर्गत विवाद निपटारा

1. **फिलिस्तीनी समस्या (1947)** – 1947 तक एक बड़ी यहूदी जनसंख्या फिलिस्तीनी क्षेत्र में बस गई थी। यहां फिलिस्तीनी एवं यहूदियों के बीच संघर्ष आरम्भ हो गया। यह मामला यू.एन.ओ. में लाया गया। यू.एन.ओ. ने फिलिस्तीनी क्षेत्र को दो भागों में विभाजित कर एक पृथक यहूदी राज्य इजराइल की स्थापना कर दी। फिलिस्तीनी मुद्दे पर यू.एन.ओ. का निर्णय एक बहुत ही विवादास्पद निर्णय माना जाता है जिसे फिलिस्तीनियों ने स्वीकार नहीं किया।
2. **भारत व पाकिस्तान के बीच कश्मीर का मुद्दा** – भारत व पाक के बीच कश्मीर के मुद्दे पर 1947 में संघर्ष आरम्भ हुआ। भारत ने यह मुद्दा यू.एन.ओ. में लाया किन्तु उस समय यू.एन.ओ. ने अमेरिका तथा ब्रिटेन के प्रभाव में भारत-विरोधी रुख अपना लिया। सर्वप्रथम 1948 में युद्ध बन्दी को लागू किया गया और फिर 1951 में जनमत संग्रह का प्रावधान लाया गया किन्तु यू.एन.ओ. का निर्णय क्रियान्वित नहीं हो सका।
3. **कोरिया संकट (1950-53)** – इस मुद्दे पर यू.एन.ओ. सफल रहा।
4. **वियतनाम संकट तथा जेनेवा सम्मेलन (1951)** – वियतनाम फ्रांस का उपनिवेश रहा था किन्तु द्वितीय विश्व युद्ध के मध्य जापान ने इस पर कब्जा कर लिया। 1945 में जापान के समर्पण के बाद एक बार फिर फ्रांस ने इस पर कब्जा करना चाहा किन्तु तभी एक राष्ट्रवादी एवं साम्यवादी नेता, हो ची मिन्ह ने उत्तरी वियतनाम में एक साम्यवादी सरकार की स्थापना कर दी। इसी मुद्दे पर फ्रांस तथा वियतनाम के बीच युद्ध छिड़ गया और शीघ्र ही यह संघर्ष शीतयुद्ध का हिस्सा बन गया। अन्त में 1954 में यू.एन.ओ. ने जेनेवा सम्मेलन के आधार पर इस समस्या का निराकरण करना चाहा किन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रभाव में यू.एन.ओ. का रवैया पक्षपात पूर्ण बना रहा। अतः इस समस्या का निराकरण नहीं हो सका और फिर 1960 व 1970 के दशक में वियतनाम के मुद्दे ने एक बड़े संकट का रूप ले लिया।
5. **स्वेज नहर संकट (1956)** – सफल रहा।
6. **कांगो संकट (1960-63)** – कांगो बेल्जियम का उपनिवेश रहा था जिसे 1960 में स्वतंत्रता प्राप्त हुई किन्तु बेल्जियम के बहकावे में कांगो के एक तांबा उत्पादक क्षेत्र कटंगा ने स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। अतः इस मुद्दे पर गृह युद्ध छिड़ गया। यू.एन.ओ. ने इसमें हस्तक्षेप किया तथा भारत ने यू.एन.ओ. को व्यापक समर्थन दिया। अन्त में यू.एन.ओ. ने युद्ध बन्दी को लागू करने में सफलता पाई।



7. **साइप्रस संकट (1964)** – साइप्रस 1874 से ही ब्रिटेन का उपनिवेश रहा था। 1960 में साइप्रस को स्वतंत्रता मिली किंतु यहां शीघ्र ही नस्लवादी संघर्ष आरम्भ हो गया। साइप्रस में लगभग 80% जनसंख्या यूनानियों की तथा 20% जनसंख्या तुर्की मूल की थी। आगे 1979 के दशक में इसने एक संकट का रूप ले लिया क्योंकि एक तरफ जहां यूनान ने यूनानी जनसंख्या को अपने साथ मिलाना चाहा तो तुर्की राष्ट्र तुर्की जनसंख्या को। अंतः इसने एक बड़े संकट का रूप ले लिया। अंत में यू.एन.ओ. ने मध्यस्थता की तथा युद्ध को रोकने के लिए एक सेना बहाल की किंतु इस समस्या का समाधान आज तक नहीं हो सका।
8. **चेकोस्लोवाकिया संकट (1968)** – चेकोस्लोवाकिया में एक रूस-विरोधी सरकार गठित हुई। अतः सोवियत रूस के नेता ब्रेजनेव ने वार्सा पैक्ट सहयोगियों की सहायता से उस सरकार को गिरा दिया। पश्चिमी देशों ने उसके इस कदम की आलोचना की तथा इस मामले को यू.एन.ओ. में लाया किंतु यहां यू.एन.ओ. विफल रहा क्योंकि रूस ने उसके विरुद्ध वीटो का प्रयोग कर दिया।
9. **ईरान-ईराक युद्ध (1980-88)**—यह युद्ध निरन्तर 8 वर्षों तक चलता रहा और अंत में 1988 में यू.एन.ओ. के पर्यवेक्षण में युद्ध बन्दी को लागू किया गया। इस प्रकार यू.एन.ओ. को सफलता मिली किंतु गौर से देखने पर यह ज्ञात होता है कि यहां युद्ध बन्दी को लागू करने का कारण यू.एन.ओ. का प्रभाव नहीं था अपितु दोनों पक्षों का निरन्तर संघर्ष से थक जाना था।
10. **कम्बोडिया संकट (1978-92)** – 1970 के दशक में नरोत्तम सिंहानुक की सरकार को विस्थापित का एक साम्यवादी संगठन खमेररूज की सरकार स्थापित हुई। इसका नेता पोल पोट था। इस सरकार के द्वारा कम्बोडिया में व्यापक दमन-चक्र एवं हिंसा को प्रोत्साहन दिया गया। बताया जाता है कि इस क्रम में कम्बोडिया की लगभग एक तिहाई जनसंख्या नष्ट हो गयी। 1978 में कम्बोडिया से खमेररूज की सरकार को वियतनाम ने खदेड़ दिया और कम्बोडिया पर कब्जा कर लिया। यद्यपि वियतनाम का यह कदम कम्बोडिया की जनता के पक्ष में था किंतु चूंकि पश्चिम देशों का रूख वियतनाम-विरोधी था अतः पश्चिमी देशों द्वारा वियतनाम के इस कदम की आलोचना की गयी। फिर यू.एन.ओ. ने इस मामले में हस्तक्षेप किया तथा इसके पर्यवेक्षण में कम्बोडिया में चुनाव कराये गये। 1993 तक वहां एक प्रजातांत्रिक सरकार स्थापित हो गयी। इस प्रकार कम्बोडिया के मामले में यू.एन.ओ. को सफलता मिली।
11. **ईराक युद्ध (1990-91)** – 1990 में ईराक ने कुवैत पर कब्जा कर लिया। अतः अमेरिका की पहल पर यू.एन.ओ. के पर्यवेक्षण में एक संयुक्त कमान का गठन हुआ तथा फिर 1991 तक कुवैत को मुक्त करा लिया गया। इस प्रकार ईराक के मुद्दे पर यू.एन.ओ. को सफलता मिली। किंतु अगर हम 1990 के दशक के ही दो महत्वपूर्ण संकट सोमालिया के संकट और कोसोवो संकट पर दृष्टिपात करें तो यह ज्ञात होता है यहां यू.एन.ओ. विफल रहा था। इस प्रकार अगर हम पिछले 5 दशकों में राजनीतिक क्षेत्र में यू.एन.ओ. की उपलब्धि पर दृष्टिपात करते हैं तो हमें यह ज्ञात होता है कि यह उपलब्धि मिश्रित प्रकार की रही।

भूमंडलीकरण

भूमण्डलीकरण आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक समायोजन की एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके परिणामस्वरूप विश्व के विभिन्न क्षेत्र एक दूसरे के निकट आ गए। पहली बार Globalization शब्द 1961 में शब्द कोष का हिस्सा बना था किंतु 1990 तथा उसके पश्चात् इस शब्द का प्रचलन बहुत ही आम हो गया।

अगर एक तरह से देखा जाए तो भूमंडलीकरण कोई अकस्मात घटना नहीं है वरन् इसकी झलक विभिन्न युगों में देखी जा सकती है उदाहरण के लिए ईसा की आरंभिक शताब्दियों में हम भूमंडलीकरण की आरंभिक अभिव्यक्ति पाते हैं इस काल में पश्चिम में भूमध्य सागरीय क्षेत्रों से लेकर पूरब में चीन तक एक व्यापारिक नेटवर्क का विकास हुआ तथा रेशम मार्ग इस व्यापारिक गतिविधि का मुख्य केन्द्र था। उसी प्रकार प्राचीन विश्व में विभिन्न क्षेत्रों के बीच सांस्कृतिक समायोजन लाने में धर्म ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। इस काल में कई ऐसे धर्म थे जिनका वैश्विक विस्तार हुआ। उदाहरण के लिए बौद्ध धर्म भारत से श्रीलंका, दक्षिण पूर्व एशिया, चीन, पश्चिम एशिया तथा मध्य एशिया में फैल गया। आगे यही भूमिका ईसाई धर्म और इस्लाम धर्म ने भी निभाई।



कुछ विद्वानों का मानना है कि भूमण्डलीकरण की वास्तविक शुरुआत 15वीं सदी से हुई जब पश्चिम में लैटिन अमेरिका से लेकर पूरब में चीन एवं दक्षिण पूर्व एशिया तक एक व्यापारिक नेटवर्क का विकास हुआ। यही वह काल है जब यूरोपीय देश के द्वारा उपनिवेशीकरण की शुरुआत हुई। यूरोपीय देशों ने लैटिन अमेरिका की चांदी के माध्यम से पूर्वी वस्तुओं को (मसाले, सूतीवस्त्र, रेशमी वस्त्र आदि) खरीदने लगे। फिर 19वीं सदी में औद्योगीकरण का दौर आया तथा इसके परिणामस्वरूप एशिया और अफ्रीका का विभाजन हुआ। यूरोपीय देशों के द्वारा एक विस्तृत क्षेत्र में संसाधनों का दोहन होने लगा। औद्योगीकृत देशों को उद्योगों के लिए कच्चे मालों की जरूरत थी तथा तैयार माल के लिए बाजार की जरूरत। यही वजह है कि इस काल में नव-साम्राज्यवाद का प्रसार हुआ।

किंतु 1990 के दशक तथा उसके पश्चात एक नवीन प्रवृत्ति देखी गई। इस काल में न केवल भौगोलिक दृष्टि से विश्व के विभिन्न क्षेत्र एक दूसरे के निकट आ गए वरन् उनके बीच आर्थिक और सांस्कृतिक गतिविधियां भी तीव्र हो गईं। इसलिए वास्तविक रूप में भूमण्डलीकरण शब्द का प्रयोग 1990 के दशक तथा उसके बाद के काल में उभर रही इन नवीन प्रवृत्तियों के लिए किया जाता है।

भूमण्डलीकरण को प्रेरित करने वाले कारक

1. विश्व बैंक तथा अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसी वित्तीय निगमों की भूमिका: इन वित्तीय निगमों के द्वारा 20वीं सदी के मध्य से विकासशील अर्थव्यवस्था को खोले जाने का दबाव डाला जाता रहा।
2. बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की भूमिका
3. क्षेत्रीय आर्थिक ईकाइयों की भूमिका, जैसे NAFTA, SAFTA, EU आदि
4. सोवियत रूस का विघटन तथा समाजवादी अर्थव्यवस्था का उत्थान
5. तृतीय औद्योगीकरण तथा सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में प्रगति
6. विश्व व्यापार संगठन की भूमिका (WTO)

भूमण्डलीकरण का सकारात्मक प्रभाव

1. **आर्थिक:** आर्थिक दृष्टि से विश्व का बेहतर एकीकरण हुआ। बिजनेस प्रोसेसिंग आउटसोर्सिंग (BPO) एवं FDI का लाभ कुछ विकासशील अर्थव्यवस्था को भी मिला, कुछ क्षेत्रों में संवृद्धि आई।
2. **राजनीतिक:** राजनीतिक दृष्टि से भी परिवर्तन महसूस किया गया। वेस्टफेलिया की संधि (1648) के आधार पर जिस सशक्त राष्ट्रीय राज्य का संगठन हुआ था। उसकी सीमा थोड़ी ढीली हुई क्योंकि राष्ट्रीय सरकारों को अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक एजेंसियों के निर्देश का पालन करना होता है।
3. **सामाजिक:** भूमण्डलीकरण का सामाजिक प्रभाव है एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में श्रमिकों की आवाजाही में वृद्धि। जैसा कि हम जानते हैं कि विकसित देशों का सेवा क्षेत्र (बैंकिंग, बीमा आदि) अत्यधिक विकसित था स्वाभाविक रूप में इसका प्रसार विकासशील देशों में हुआ बदले में विकासशील देशों के श्रमिक खाड़ी देश एवं विकसित देशों की ओर गए।
4. **सांस्कृतिक प्रभाव:** भूमण्डलीकरण के प्रभाव स्वरूप वैश्विक संस्कृति और क्षेत्रीय संस्कृति के बीच बेहतर आदान प्रदान।



13. गुटनिरपेक्षता (Non-Alignment)



गुटनिरपेक्षता की अवधारणा (Concept of Non-Alignment)

यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में मजबूती लाने हेतु कृतसंकल्प गुटनिरपेक्षता की नीति मूलतः भारत की देन है। अंतरिम प्रधानमंत्री का प्रभार संभालने के तुरंत बाद पं. जवाहरलाल नेहरू ने जिस विदेश नीति की घोषणा की थी वही आगे चलकर गुट-निरपेक्षता की अवधारणा के रूप में विकसित हो गई। यह अवधारणा प्रत्यक्षतः शीतयुद्ध से संबंधित है। शीतयुद्ध उस तनाव की स्थिति का नाम है जो द्वितीय विश्व युद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के बीच उत्पन्न हो गयी थी। ये दोनों देश 1939-1945 के महायुद्ध में मित्र राष्ट्रों के रूप में भागीदार थे। परिणामतः युद्ध के दौरान जो विद्वेष धीरे-धीरे पनप रहा था वह अब खुलकर सामने आ गया था। ब्रिटेन, फ्रांस, संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत संघ तथा अन्य मित्र राज्यों की युद्ध में स्पष्ट विजय हुई थी। भले ही मित्र राष्ट्रों ने जर्मनी, इटली और जापान को पराजित किया हो, परंतु वे अपने वैचारिक मतभेद स्थायी रूप से भुला नहीं पाए थे। शीतयुद्ध इन्हीं मतभेदों का परिणाम था। यह एक अनोखा युद्ध था जिसे दो विरोधी गुटों के बीच राजनयिक रूप से लड़ा गया।

विश्व के देश जिन दो गुटों में बंट गए थे, वे थे-

- अमेरिका के नेतृत्व में पूंजीवादी गुट या पश्चिमी गुट या लोकतांत्रिक गुट और
- सोवियत संघ के नेतृत्व में पूंजी गुट या समाजवादी गुट या सोवियत गुट।

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है गुट-निरपेक्षता की नीति का उद्देश्य गुटों की राजनीति से दूर रहना, दोनों गुटों के साथ मैत्री रखना, किसी के साथ भी सैनिक संधियां न करना और एक स्वतंत्र विदेश नीति का विकास करना था। नेहरू ने 7 सितम्बर 1946 को कहा था कि- 'हम अपनी इच्छा से इतिहास का निर्माण करेंगे।' उन्होंने आगे यह भी कहा था कि हमारा प्रस्ताव है कि जहां तक संभव होगा हम समूहों की 'शक्ति राजनीति' (Power Politics) से दूर रहेंगे क्योंकि इस प्रकार की गुटबंदी से पहले दो विश्व युद्ध हो चुके हैं और यह हो सकता है कि एक बार अधिक भयंकर दुर्घटना हो जाए। भारत ऐसी किसी भी आशंका के प्रति सचेत था तथा किसी भी प्रकार का कोई युद्ध नहीं चाहता था।

1947 में नेहरू ने अपनी बात को दोहराते हुए कहा था कि भारत किसी भी शक्ति गुट में शामिल नहीं है। भारत की गुट-निरपेक्षता की नीति को एक सकारात्मक तटस्थता कहा जा सकता है। इस व्यवस्था के अंतर्गत देश स्वतंत्र रूप से कार्य करता है और प्रत्येक अंतर्राष्ट्रीय प्रश्न पर गुण दोष के आधार पर ही किसी नतीजे पर पहुंचता है। गुट-निरपेक्षता अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की एक ऐसी घटना है जो कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद घटी। आज की तिथि में गुटनिरपेक्षता (Non-Alignment) अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की प्रकृति निर्धारण में निर्णायक भूमिका निभाती है।

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के संचालन में और विशेषकर दो महाशक्तियों के प्रति अपनाई गई नीतियों के परिप्रेक्ष्य में पूरी तरह स्वतंत्र होना गुटनिरपेक्षता की अभिव्यक्ति करता है। पं. नेहरू के अनुसार 'गुटनिरपेक्षता' शक्ति की राजनीति से दूर रहने, शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के लिए कार्य करने तथा गुटों में शामिल तथा गुटनिरपेक्ष, सभी देशों के आपसी सहयोग का नाम है।

कोई भी गुटनिरपेक्ष देश अपनी नीतियां बनाने और कार्य विधि तय करने के लिए स्वतंत्र होता है। इस नीति से अंतर्राष्ट्रीय शांति, सुरक्षा और सहयोग को प्रोत्साहन मिलता है। गुटनिरपेक्षता के लिए असंलग्नता शब्द का भी प्रयोग किया जाता है क्योंकि कोई भी गुटनिरपेक्ष देश किसी महाशक्ति के साथ स्थायी रूप से नहीं जुड़ा था।

जैसा कि हमने ऊपर वर्णन किया है, गुटनिरपेक्षता का सीधा संबंध शीतयुद्ध से था। गुटनिरपेक्षता शीतयुद्ध के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया थी। एक ओर जहां महाशक्तियां आक्रामक रूप से गुट निर्माण में संलग्न थीं। वहीं दूसरी ओर नवोदित देश किसी भी सैनिक गठबंधन से दूर रहना चाहते थे और गुट नेताओं से आदेश प्राप्त करने के विरुद्ध थे। इसलिए अब जब कि शीतयुद्ध समाप्त हो गया है यह विचार बार-बार व्यक्त किया जा रहा है कि गुटनिरपेक्षता का औचित्य ही नहीं रह गया है। फिर भी गुटनिरपेक्ष आंदोलन आज भी सक्रिय है।

अपनी नवीन राजनीतिक स्वतंत्रता की रक्षा के लिए भारत ने तथा उसका अनुसरण करते हुए बाद में कई देशों ने विदेश नीति के साधन के रूप में गुटनिरपेक्षता को अपनाया। औपनिवेशिक शासन से स्वतंत्रता यद्यपि



एक महत्वपूर्ण उपलब्धि तो थी लेकिन इसे अपने आप में पर्याप्त नहीं कहा जा सकता था। सामाजिक, आर्थिक विकास के द्वारा ही भारत के राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि हो सकती थी। गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों का यह विश्वास था कि इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अंतर्राष्ट्रीय शांति एक आवश्यक शर्त हो गई थी। गुटनिरपेक्ष देश शीतयुद्ध, गुटों की राजनीति, शक्ति की राजनीति आदि को सामाजिक-आर्थिक विकास के मार्ग में बाधाओं के रूप में स्वीकारते थे और इनसे दूर रहने में ही अपना विकास देखते थे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि गुटनिरपेक्षता या असंलग्नता सोची समझी कार्यनीति का परिणाम था। इसका अंतिम उद्देश्य भारत की संप्रभुता और प्रादेशिक अखंडता की रक्षा, राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि और भारत तथा अन्य विकासशील देशों का आर्थिक विकास करना था। अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा भी गुटनिरपेक्षता से किसी न किसी रूप में जुड़े हुए थे।

गुटनिरपेक्षता की आवश्यकता इतनी मूल्यवान हो गई कि जो भी देश इस काल में स्वतंत्र हुए उन्होंने अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता की रक्षा और आर्थिक विकास के लिए गुटनिरपेक्षता का मार्ग ही चुना। साथ ही साथ गुटनिरपेक्षता भारत की विदेश नीति का तर्कसंगत सिद्धांत बन गया था। एक स्वतंत्र विदेश नीति जन साधारण की इच्छाओं और अपेक्षाओं का प्रत्युत्तर थी। इसने जनमानस में गौरव की भावना विकसित की और देश की एकता का निर्माण करने में सहायता की। गुटनिरपेक्षता का यह सिद्धांत एक ऐसे महान राष्ट्र का प्रत्युत्तर था जो उपनिवेशवाद से बाहर निकलकर शीतयुद्ध के दबाव को रोकना चाहता था। यह द्विध्रुवीय अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में स्वायत्तता की एक सुनिश्चित अवधारणा थी। गुटनिरपेक्षता वास्तव में एक ऐसा आंदोलन था, जिसमें उपनिवेशवाद के उन्मूलन के लिए अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा के लिए तथा एक ऐसी विश्व व्यवस्था के लिए वचनबद्धता थी जिसमें न तो किसी प्रकार का शोषण होगा, न जाति-भेद या रंग-भेद होगा और जिसमें सभी स्वाधीन लोगों को एक समान अवसर उपलब्ध होंगे।

गुटनिरपेक्ष आंदोलन की पृष्ठभूमि (Background of Non-Aligned Movement)

इस नीति को आंदोलन के रूप में स्वीकृति मिलना कोई आश्चर्यजनक घटना नहीं थी। गुटनिरपेक्ष आंदोलन की 1961 में भारत की पहल पर शुरू किया गया और औपचारिक रूप से गुटनिरपेक्ष आंदोलन का शुभारंभ प्रधानमंत्री नेहरू, यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति मार्शल टीटो और मिस्र के राष्ट्रपति नासिर ने किया।

बेलग्रेड में गुटनिरपेक्ष देशों के पहले सम्मेलन में पच्चीस देशों ने भाग लिया। इसकी अध्यक्षता टीटो ने की थी। किस देश को आमंत्रित करना है और किसको नहीं, इसका निर्णय सामूहिक रूप से नेहरू, नासिर और टीटो ने किया था। उन्होंने निमंत्रण भेजते समय विभिन्न देशों की विदेश नीतियों का परीक्षण भी किया था। पहले शिखर सम्मेलन में भाग लेने के लिए पांच मानदंड निर्धारित किए गए थे। ये निम्नवत् थे-

1. संबद्ध देश गुटनिरपेक्षता और शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की विदेश नीति पर स्वतंत्र आचरण करता हो।
2. संबद्ध देश उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का विरोध करता हो।
3. संबद्ध देश शीत युद्ध से संबंधित न हो।
4. संबद्ध देश ने किसी महाशक्ति के साथ कोई द्विपक्षीय संधि न की हो, और
5. उस देश की भूमि पर कोई भी विदेशी सैनिक अड्डा स्थापित न किया गया हो।

आरंभ में गुटनिरपेक्ष आंदोलन पच्चीस देशों ने शुरू किया था। कालांतर में इसके विकास क्रम में कई परिवर्तन आए हैं। इन परिवर्तनों को गुणात्मक व संख्यात्मक दोनों ही रूपों में देखा जा सकता है। समय-समय पर इसके शिखर सम्मेलन होते हैं, जिनमें अंतर्राष्ट्रीय राजनीति से जुड़े ज्वलंत प्रश्नों पर विचार किया जाता है और यह प्रयत्न किया जाता है कि आंदोलन के सभी देश एक समान दृष्टिकोण अपनाएं। हालांकि कार्य कठिन अवश्य हो गया है, क्योंकि सदस्य देशों की संख्या बढ़ने से आम सहमति का निर्माण प्रायः जटिल होता है। फिर भी गुटनिरपेक्ष आंदोलन की सफलता आज भी अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में एक नया आयाम जोड़ती है।

क्यों गुटनिरपेक्षता का आशय तटस्थता या पृथक्ता से है?

(Does Non-Alignment Mean Neutrality or Separation?)

गुटनिरपेक्षता हेतु दो प्रमुख शब्दों का प्रयोग किया जाता है। 'तटस्थता' (Neutrality) और 'तटस्थतावाद' (Neutralityism)। परंतु इन दोनों ही शब्दों से गुटनिरपेक्षता की अवधारणा का सही अर्थ नहीं निकलता। वस्तुतः

अवधारणा के रूप में तटस्थता शब्द का प्रयोग युद्ध के दौरान ऐसे देश के लिए किया जाता है जो लड़ाई में सम्मिलित ही न हो। इस संदर्भ में स्पेन का उदाहरण लिया जा सकता है। द्वितीय विश्व युद्ध में स्पेन न तो मित्र राष्ट्रों के पक्ष में था और न ही धुरी राष्ट्रों के पक्ष में। उसने स्वेच्छा से युद्ध में भाग नहीं लिया। अतः स्पेन तटस्थ था।

ऑक्सफोर्ड शब्दकोश के अनुसार तटस्थता वह स्थिति है जिसमें कोई देश किसी भी युद्धरत देश का समर्थन नहीं करता है और युद्ध के दौरान प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से किसी की सहायता नहीं करता है। तटस्थ देश के आचरण का आधार अंतर्राष्ट्रीय कानून होता है।

गुटनिरपेक्षता के संदर्भ में तटस्थता का आशय स्पष्ट करना आवश्यक है। गुटनिरपेक्षता किसी ऐसे राज्य की तटस्थता नहीं है जिसकी किसी युद्ध में भागीदारी न हो। यह स्विट्जरलैंड और आस्ट्रिया की स्थिति से भी भिन्न है। शेष सभी राज्यों ने इन दोनों देशों को यह आश्वासन दिया हुआ है कि वे उन पर कभी भी आक्रमण नहीं करेंगे। परंतु विशेषज्ञों के अनुसार तटस्थता शब्द का प्रयोग शांतिकाल में राजनयिक तौर पर अलग रहने की नीति के लिए किया जा सकता है। तटस्थता का यह अर्थ गुटनिरपेक्षता के उद्देश्यों को सुपरिभाषित करता है।

यहां तक तो ठीक है कि कोई तटस्थ राज्य इसलिए तटस्थ कहलाता है कि वह युद्ध में शामिल नहीं है। *v eŋd k7 fnl ej] 1941 l si ʌŋr h fo'o ; ʌ ea ʌRkRk i jaɔ k ku }jki y ʒlcZ* (Pear Harbor) पर हवाई आक्रमण के बाद वह युद्ध में शामिल हो गया। इसी स्थिति में इसे तटस्थ नहीं कहा जा सकता। दूसरी ओर 'तटस्थतावाद' का प्रयोग स्विट्जरलैंड जैसी स्थिति के लिए किया जाता है। ये शब्द विशेष रूप से उन राज्यों के लिए प्रयुक्त होते हैं जिन्होंने कभी भी किसी पर भी आक्रमण न करने की घोषणा की होती है। स्विट्जरलैंड की अपनी कोई सेना ही नहीं है और उस पर दोनों ही विश्व युद्धों में किसी ने आक्रमण भी नहीं किया। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि ऑस्ट्रिया को भी 1955 में तटस्थतावादी देशों की श्रेणी में रखा गया।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि एक गुटनिरपेक्ष देश उस नीति का पालन करता है जिसके अनुसार वह गुटों की राजनीति से तो दूर रहता है परंतु उसने स्थायी रूप से तटस्थ रहने का वचन नहीं दिया होता है वहीं दूसरी ओर तटस्थतावादी देश स्थायी रूप से सभी युद्धों से अलग रहता है।

उदाहरण के लिए गुटनिरपेक्ष भारत को 1962 में चीन के विरुद्ध तथा 1965 और 1971 में पाकिस्तान के विरुद्ध युद्ध करने पड़े। भारत फिर भी गुटनिरपेक्ष रहा। इन तीनों युद्धों में न तो भारत तटस्थ था और न ही वह स्थायी रूप से तटस्थतावाद का पालन कर रहा था। गुटनिरपेक्ष देश अपने सभी निर्णय केवल अपने राष्ट्रीय हितों के अनुसार करते हैं। वे अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार व्यक्त करने के लिए संयुक्त राष्ट्र इत्यादि में मतदान करने के लिए स्वतंत्र होते हैं।

कभी-कभी गुटनिरपेक्षता को पृथक्ता से भी जोड़ लिया जाता है। यह भ्रम धारणा है। पृथक्ता का अर्थ है अन्य देशों की समस्याओं से अलग रहना। संयुक्त राज्य अमेरिका 1823 में घोषित मुनरो सिद्धांत (Monroe Doctrine) के अनुसार अपने आप को यूरोप की समस्याओं से पूरी तरह दूर रखता था। क्योंकि प्रथम विश्व युद्ध से पहले यूरोप में उसकी कोई रुचि नहीं थी। वह पृथक्ता के अनुसार केवल अमेरिका की समस्याओं में रुचि से किसी बड़ी शक्ति का दामन नहीं पकड़ते। इस प्रकार गुटनिरपेक्षता को पृथक्तावाद से हटकर देखा जाना चाहिए।

गुटनिरपेक्ष देश स्वेच्छा से निर्णय करते हैं, प्रत्येक प्रश्न पर अपने विचार व्यक्त करते हैं और मतदान करते हैं। वे न तो किसी गुट में होते हैं, और न ही सभी से पृथक् होते हैं, वास्तव में गुटनिरपेक्ष देश अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं में सकारात्मक भूमिका निभाते हैं। गुटनिरपेक्ष देश स्थायी संधियों से दूर रहने की नीति का अनुसरण करते हैं। कुछ विद्वानों का मानना है कि गुटनिरपेक्ष देश दोनों गुटों के साथ एक समान संबंध रखते हैं। इसे न तो तटस्थता कहा जा सकता है और न ही पृथक्ता। गुटनिरपेक्ष देश दोनों के साथ एक जैसी दूरी बनाकर चलते हैं।

गुटनिरपेक्षता के सकारात्मक और नकारात्मक आयाम

(Positive and Negative Dimensions of Non Alignment)

किसी भी अवधारणा के दो पहलू होते हैं- सकारात्मक और नकारात्मक। गुटनिरपेक्षता भी इसका अपवाद नहीं है। सकारात्मक पक्ष का अर्थ है कि नए राज्य (गुट निरपेक्ष देश) शीत युद्ध से बचना चाहते थे परंतु वे अंतर्राष्ट्रीय राजनीति से दूर नहीं रहना चाहते थे। उनके अनुसार सकारात्मक तटस्थता बड़ी शक्तियों के बीच होने वाली





भयानक लड़ाइयों के बीच मध्यस्थता करने का प्रयास था। नकारात्मक दृष्टि से गुटनिरपेक्षता का अर्थ है शक्तिहीनता के कारण नए राज्यों का बड़ी शक्तियों की समस्याओं से दूर रहना। भारत इस शक्तिहीन के विचार से सहमत नहीं है। भारत का दृढ़ विचार है कि गुटनिरपेक्षता कमजोरी नहीं है, यह तो विश्व राजनीति में स्वतंत्र भागीदारी का नाम है। इस प्रकार गुटनिरपेक्षता स्वतंत्र रूप से कार्य करने की अवधारणा का नाम है। सकारात्मक गुटनिरपेक्षता का अर्थ है अपनी इच्छा से स्वतंत्र निर्णय करना, महाशक्तियों से आदेश न लेना, सैनिक गठबंधनों में न फंसना और न ही किसी बड़े देश को अपनी भूमि पर सैनिक अड्डे बनाने देना।

भारतीय विदेश नीति में गुटनिरपेक्षता की प्रस्थिति (Status of Non-Alignment in India's Foreign Policy)

हम सभी इस बात को जानते हैं कि भारत की नीति सकारात्मक और सक्रिय रूप से विश्व राजनीति में भाग लेने की है। यही कारण है कि भारत गुटनिरपेक्षता की नीति अपनाने वाला पहला देश था। भारत को गुटनिरपेक्ष नीति का अग्रदूत भी कहा जाता है। भारत की गुटनिरपेक्षता की नीति केवल गुटों की राजनीति से दूर रहने की नीति है। नेहरू ने 1949 में अमरीकी कांग्रेस में बोलते हुए कहा था कि “यदि कहीं पर स्वतंत्रता संकट में पड़ेगी या न्याय का खतरा होगा या कहीं आक्रमण किया जाएगा तो हम न तो तटस्थ रह सकते हैं और नहीं रहेंगे।” हमारी नीति तटस्थतावादी नहीं है, बल्कि यह ऐसी नीति है जो सक्रिय रूप से शांति स्थापित करने और उसे मजबूत आधार देने की नीति है। भारत ने अपने लिए एक स्वतंत्र स्थान बनाया है और अपने जैसे अन्य राज्यों के सहयोग से अंतर्राष्ट्रीय सद्भाव स्थापित करने में उसकी प्रभावी भूमिका रही है। भारत की विदेश नीति के समीक्षकों ने आरंभ में ही यह कहा था कि यह नीति ‘लोकतंत्र के पक्ष में तटस्थता’ की नीति होगी। इस प्रकार से यह नीति महात्मा गांधी के अहिंसा के विश्वास को प्रोत्साहन देती है।

भारत संसार को तीसरे महायुद्ध से बचाना चाहता था। पं. नेहरू का मानना था कि यदि कोई विपत्ति आएगी तो वह समस्त संसार को प्रभावित करेगी। अतः हमारा पहला प्रयास यह होना चाहिए कि विपत्ति को आने से ही रोका जाए। भारत के इस संकल्प को दोहराते हुए कि हम शक्ति गुटों से दूर रहेंगे, नेहरू ने 1949 में कहा था कि- “यदि किसी कारण से हमें एक शक्ति गुट में शामिल होना ही पड़ता है तो शायद एक दृष्टिकोण से हम कुछ भला ही करेंगे पर मुझको इस विषय में कोई भी शंका नहीं लगती कि एक वृहत्-दृष्टिकोण से ऐसा करना न केवल भारत के लिए बल्कि विश्व शांति के लिए भी हानिकारक होगा।”

भारत की विदेश नीति का प्राथमिकताओं में सम्मिलित हैं- देश का आर्थिक विकास, मामलों में कार्य करने की स्वतंत्रता देश की संप्रभुता और प्रादेशिक अखंडता को सुरक्षित रखना तथा विश्व शांति के प्रयास। भारत का यह दृढ़ विश्वास रहा है कि इन उद्देश्यों की प्राप्ति तथा विदेश नीति संबंधी निर्णय स्वतंत्रता से लेकर शक्ति गुटों से दूर रहकर ही की जा सकती है।

नेहरू की प्रतिबद्धता उदारवाद की पश्चिमी संकल्पना और लोकतंत्र के प्रति थी। परंतु उन्होंने कभी भी उन सैनिक गठबंधनों का समर्थन नहीं किया जिन्हें अमेरिका ने साम्यवाद के प्रसार को रोकने के लिए स्थापित किया था। उनके द्वारा सैनिक संधियों का विरोध जिन दो कारणों से किया गया, वे हैं- उपनिवेशवाद को नए रूप में प्रोत्साहन मिलना तथा इन सैनिक संधियों की देखादेखी दूसरे गुट में भी सैनिक संधियां होंगी और शस्त्रों की होड़ आरंभ होने की भी आशंका बढ़ जाएगी।

लोकतांत्रिक समाजवाद के विचार के समर्थक के रूप में नेहरू जी जाने जाते हैं। लेकिन यहां उल्लेखनीय बात यह है कि उन्होंने साम्यवादी राज्य को एकाधिकारवादी कहकर अस्वीकार किया था और मार्क्सवाद को घिसा-पिटा सिद्धांत बताया था। उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में शक्ति गुटों की राजनीति के विचार का ही विरोध किया था। इस प्रकार भारत की नीति का उद्देश्य एक तीसरा गुट बनाना नहीं था, परंतु नए स्वतंत्र हुए राज्यों को निर्णय करने की स्वतंत्रता सुनिश्चित करने की दिश में यह एक कदम था।

जहां तक गुटनिरपेक्षता के संबंध में भारत के दृष्टिकोण की बात है तो भारत ने गुटनिरपेक्षता को शांति की नीति के रूप में अपनाया था, झगड़ा बढ़ाने के लिए नहीं। भारत की गुटनिरपेक्षता का संबंध, अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में स्थिति को अपरिवर्तनीय रखने से नहीं था बल्कि यह तो देश और विश्व के हित में परिवर्तन लाने, उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, जातिभेद और नव उपनिवेशवाद का विरोध करने की नीति

है। गुटनिरपेक्षता के माध्यम से भारत इन बुराइयों से संपूर्ण विश्व को मुक्त कराना चाहता था, साथ ही साथ वह महाशक्तियों की श्रेष्ठता का दबाव कम करके सभी राष्ट्रों में समानता की भावना भी गुटनिरपेक्षता के माध्यम से लाना चाहता था।

गुटनिरपेक्षता बल प्रयोग को अस्वीकार करके अंतर्राष्ट्रीय विवादों में शांतिपूर्ण निःशस्त्रीकरण की सिफारिश करती है और सभी देशों के मध्य मैत्रीपूर्ण संबंधों को प्रोत्साहन देती है। यह सभी परमाणु अस्त्रों के विनाश और पूर्ण निःशस्त्रीकरण की सिफारिश करती है। भारत की विदेश नीति समस्त मानवता की सामाजिक और आर्थिक समस्याओं के समाधान पर जोर देती है। भारत अन्याय और असंतुलन पर आधारित वर्तमान अर्थव्यवस्था को समाप्त करके एक 'नई अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था' (New International Economic Order) की स्थापना का पूरी तरह से समर्थन करता है। गुटनिरपेक्षता को संयुक्त राष्ट्र संघ को शक्तिशाली बनाने की नीति के रूप में भी देखा जा सकता है।



गुटनिरपेक्षता का विकल्प चुनने का तर्काधार

गुटनिरपेक्षता की नीति अपनाने के पीछे भारत का दृष्टिकोण मुख्यतः निर्णय लेने की स्वतंत्रता की रक्षा करना था। इसके अतिरिक्त आर्थिक विकास पर भारत बहुत अधिक बल दे रहा था। आरंभ में गुटनिरपेक्षता की नीति अपनाने के प्रमुख कारण थे-

- (i) ऐसा माना जा रहा था कि अमेरिका या सोवियत गुट के साथ भारत की संलग्नता अंतर्राष्ट्रीय तनाव को बढ़ा सकती थी तथा अंतर्राष्ट्रीय शांति की संभावनाएं क्षीण हो सकती थीं, इसीलिए नेहरू ने कहा था कि शक्ति गुटों से विपत्तियां आएंगी और भारत इनसे दूर रहना चाहता है। भारत के भौगोलिक, सामाजिक महत्व के कारण और सभ्यता के विकास में उसके योगदान के आधार पर अंतर्राष्ट्रीय तनाव कम करने व शांति को प्रोत्साहन देने में इसे महत्वपूर्ण भूमिका निभानी थी।
- (ii) दोनों गुटों के बीच एक सेतु के कार्य सकारात्मक, भूमिका निभाने वाला भारत न तो एक बड़ी शक्ति था और न ही बिल्कुल महत्वहीन राष्ट्र था। भारत के पास एक महान शक्ति बनने की संभावना अवश्य थी। भारत की वर्तमान आवश्यकताओं और उसकी राष्ट्रीय पहचान को दृष्टिगत रखते हुए गुटनिरपेक्षता की नीति आवश्यक थी। भविष्य में भारत को एक महान शक्ति के रूप में उभारने में भी गुटनिरपेक्षता काफी सहायक सिद्ध हो सकती थी।
- (iii) भारत पश्चिमी गुट में इसलिए भी सम्मिलित नहीं हो सकता था क्योंकि इस गुट के अनेक देश उपनिवेशवादी शक्ति थे या रह चुके थे। कुछ देश अब भी जातीय भेद का व्यवहार कर रहे थे। दूसरी ओर, भारत सोवियत गुट में इसलिए नहीं हो सकता था क्योंकि भारत को साम्यवादी विचारधारा कभी स्वीकार्य नहीं थी। अंततः भारत ने भावनात्मक और वैचारिक दोनों ही कारणों से किसी शक्तिगुट में न शामिल होने का निर्णय किया।
- (iv) किसी भी अन्य प्रभुसत्ता संपन्न देश की भांति भारत भी अपने निर्णय स्वयं करना चाहता था।
- (v) अपनी आर्थिक विकास की परियोजनाओं हेतु भारत को विदेशी पूंजी की तुरंत आवश्यकता थी। राजनीतिक तौर पर किसी एक विशेष देश से सहायता उचित नहीं थी। फलतः कठिन शर्तें ने जुड़ी होने की स्थिति में देश के लिए लाभदायक तो यह था कि हमें जहां से भी सहायता मिले, उसे स्वीकार करें।
- (vi) सत्य और अच्छाई किसी एक धर्म या दर्शन के एकाधिकार में नहीं होते। इस भावना का प्रबल पक्षधर भारत सहनशीलता में विश्वास करता है। उस समय की स्थिति में सहनशीलता और शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व ही देश के हित में थे। भारत मित्रता सबके साथ शत्रुता किसी से नहीं के आदर्श पर चलना चाहता था।
- (vii) देश की आंतरिक स्थिति भी गुटनिरपेक्षता की नीति अपनाने के लिए बहुत हद तक उत्तरदायी थी। यदि भारत किसी भी गुट के साथ संलग्न होने का निर्णय करता तो उससे राजनीतिक विवाद तो उत्पन्न होते ही साथ ही साथ अस्थिरता की भी आशंका बढ़ती।

यह स्पष्ट है कि भारत की जनता ने आमतौर पर पं. नेहरू की गुटनिरपेक्षता की नीति का समर्थन किया। अन्य अनेक देशों ने भी इस नीति को अपने राष्ट्रीय हितों के अनुकूल पाया और इसके प्रसार में भरपूर सहयोग दिया। यह नीति लगभग पचास वर्षों तक अबाध गति से सफलतापूर्वक चली।



एकध्रुवीय विश्व में गुटनिरपेक्षता की प्रासंगिकता (Relevance of Non-Alignment in Unipolar World)

पिछले एक दशक से अंतर्राष्ट्रीय पहल पर घटित होने वाली घटनाओं पर यदि दृष्टि डाली जाए तो अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के पंडित भी यह समझ पाने में अपने आप को असमर्थ पाते हैं कि नई विश्व व्यवस्था का क्या रूप होगा। शीतयुद्ध 1990 से पूर्व ही समाप्त हो गया था। गोर्बाचेव के सोवियत साम्यवादी पार्टी के महासचिव बनने के साथ ही इसकी समाप्ति की प्रक्रिया 1985 में ही शुरू हो गई थी। उन्होंने देश की राजनीति और अर्थव्यवस्था में अनेक सुधार आरंभ किए परंतु उन सुधारों का परिणाम कुछ विचित्र ही हुआ।

गोर्बाचेव और अमेरिकी राष्ट्रपति रीगन ने विदेशी संबंधों की दिशा में बातचीत का जो सिलसिला शुरू किया वह संसार को शीतयुद्ध की समाप्ति की ओर ले गया। ये दोनों नेता चार वर्ष के अंतराल में (1985-1988) चार बार मिले और अंततः 1987 में एक अत्यंत महत्वपूर्ण संधि पर हस्ताक्षर किए। इस संधि के द्वारा मध्यम-दूरी और कम-दूरी के परमाणु प्रक्षेपास्त्रों के उन्मूलन का निर्णय लिया गया। इस संधि का अनुमोदन 1988 में हुआ, जिसने अगले वर्ष शीतयुद्ध के तनाव को समाप्त करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

बर्लिन की दीवार, जिसने बर्लिन नगर को दो भागों में विभाजित किया हुआ था, वह भी नवम्बर 1989 में गिरा दी गई। अगले वर्ष साम्यवादी पूर्वी जर्मनी और पूंजीवादी पश्चिमी जर्मनी का एकीकरण हो गया। इस नई जर्मनी ने खुले बाजार पर आधारित पूंजीवादी व्यवस्था को अपनाया। साथ ही पूर्वी यूरोप के अनेक साम्यवादी देशों ने साम्यवादी व्यवस्था को तिलांजलि दे दी। अंततः दिसम्बर 1991 में सोवियत संघ का विघटन हो गया। ये देश (पंद्रह गणराज्य) संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य बने और रूस को सोवियत संघ का उत्तराधिकारी मान लिया गया।

रूस को सुरक्षा परिषद की स्थायी सदस्यता भी मिल गई। अब संसार में केवल एक महाशक्ति अमेरिका ही शेष रह गया। काफी समय तक ऐसा प्रतीत होता रहा कि संसार एकध्रुवीय हो गया है, परंतु जिस गति से चीन और भारत तेजी से आर्थिक शक्तियों के रूप में उभर रहे हैं उससे यह आशा की जा सकती है कि वे अमेरिका को कभी भी चुनौती दे सकते हैं। संसार शायद बहुध्रुवीय व्यवस्था की ओर धीरे-धीरे बढ़ रहा है।

भारत की गुटनिरपेक्षता की नीति की प्रासंगिकता अब क्या रह गयी है? यह प्रश्न नई विश्व व्यवस्था के संदर्भ में विचारणीय है। गुटनिरपेक्षता का जन्म शीतयुद्ध के कारण मानने वाले विचारकों की दृष्टि में शीतयुद्ध के समाप्त होने के बाद इसकी कोई उपयोगिता नहीं रह गई है। ऐसा कहा जाता था कि गुटनिरपेक्षता दो शक्ति गुटों की विशेष परिस्थिति का विशेष उत्तर थी। जिस समय संसार के अधिकतर देश दो में से किसी एक गुट में शामिल हो रहे थे, उस समय भारत का यह निर्णय कि वह तीसरा मार्ग चुनेगा, साहस और प्रगति का प्रतीक था। प्रथमतः नेहरू और भारत की विदेश नीति के अनेक समर्थकों के अनुसार गुटनिरपेक्षता व्यवहार में स्वतंत्र रूप से, विदेश संबंधों के निर्णय करने की नीति थी। इसका अर्थ हुआ कि भारत अपनी विदेश नीति स्वतंत्र रूप से नई दिल्ली में बनाता था। वह इस विषय पर लंदन, वाशिंगटन या मास्को से संचालित नहीं होता था। दूसरे, इस नीति ने कहीं से भी आर्थिक विकास के लिए सहायता लेने की संभावनाएं खुली रखी थी। तीसरे, गुटनिरपेक्षता का उद्देश्य अंतर्राष्ट्रीय शांति और विवादों का शांतिपूर्ण समाधान करना था। निष्कर्षतः जहां तक गुटनिरपेक्षता की प्रासंगिकता की बात है तो यह कहीं से भी कम नहीं हुई है। जब उद्देश्य ज्यों के त्यों अस्तित्वमान हैं तो उपयोगिता पर तो प्रश्नचिह्न लगाया ही नहीं जा सकता।

जून 1991 में जब पी.वी. नरसिंह राव ने प्रधानमंत्री का पद संभाला। तब तक सोवियत संघ का विघटन नहीं हुआ था, पर शीतयुद्ध समाप्त हो चुका था। प्रधानमंत्री राव ने इस बात को दोहराया कि भारत गुटनिरपेक्षता की नीति पर पहले की तरह चलता रहेगा। टोकियो में 1992 में नरसिंह राव ने एक भाषण में स्पष्ट किया कि- “गुटनिरपेक्षता की विदेश नीति पर चलना आज पहले से भी अधिक प्रासंगिक हो गया है। गुटनिरपेक्षता का मूल आधार राष्ट्रों की स्वतंत्रता और उनके विकास का अधिकार है। चाहें गुटों की स्थिति कुछ भी क्यों न हो, चाहे किसी समय एक गुट हो या अनेक, गुटनिरपेक्ष देशों की यह इच्छा है कि वे अपनी स्वतंत्रता बनाए रखें और उसी के आधार पर किसी अन्य देश के साथ जुड़े बिना स्वयं अपने निर्णय कर सकें।” उन्होंने यह जोर देकर कहा था कि अब किसी भी देश के प्रभुत्व का समय नहीं रह गया है। विश्व एकध्रुवीय, द्विध्रुवीय या बहुध्रुवीय कैसा भी हो, छोटे और कमजोर देशों की विदेश नीति के विकल्प के रूप में गुटनिरपेक्षता सदा

ही वैध और प्रासंगिक रहेगी। गुटनिरपेक्ष आंदोलन आज भी उतना ही उपयोगी है, जितना 1960 में था। ऐसा इसलिए है क्योंकि हम आज भी बड़ी शक्तियों के प्रभुत्व का शिकार हैं। इन्द्र कुमार गुजराल ने भी विदेश मंत्री के रूप में, 1996 में गुटनिरपेक्षता की नीति में भारत के विश्वास की संपुष्टि की थी। इस प्रकार गुटनिरपेक्षता की उपयोगिता व अस्तित्व पर कोई सवालिय निशान नहीं लगाए जा सकते क्योंकि यह केवल शीतयुद्ध तक केंद्रित नहीं था बल्कि यह बहुउद्देश्यीय था।

राजनीतिक सिद्धांत के रूप में गुटनिरपेक्षता की प्रासंगिकता कम हुई है क्योंकि प्रत्येक देश स्वतंत्र रूप से विदेश नीति का निर्धारण कर रहा है और शीतयुद्ध भी समाप्त हो चुका है। उदाहरण के लिए 1996 में निःशस्त्रीकरण सम्मेलन में जिस तरह भारत ने व्यापक परमाणु परीक्षण निषेध संधि (Comprehensive Nuclear Test Ban Treaty-CTBT) का विरोध करके निषेधाधिकार का प्रयोग किया और फिर महासभा में भी उसके विरुद्ध मतदान किया, उससे यह स्पष्ट है कि कोई गुटनिरपेक्ष देश चाहे तो किसी भी प्रश्न को ही गुट निरपेक्ष की श्रेणी में रखा जा सकता है, से निर्णय लेकर कार्य कर सकता है। अनेक दबावों के बावजूद भारत ने व्यापक परीक्षण निषेध संधि (Comprehensive Nuclear Test Ban Treaty-CTBT) पर हस्ताक्षर नहीं किए। परंतु आर्थिक विकास और सामाजिक परिवर्तन के लिए गुटनिरपेक्षता आज भी उतनी ही उपयोगी है, जितनी अपने जन्म के समय थी।

गुटनिरपेक्ष आंदोलन का विश्लेषणात्मक अध्ययन (Analytical Study of Non-Alignment Movement)

अपने हितों के अनुसार जहां तक संभव हो विदेशी प्रभाव के बिना निर्णय करने की स्वतंत्रता, इसमें विदेश और रक्षा नीतियों के संचालन की स्वतंत्रता भी निहित है। कुछ प्रश्नों जैसे- उपनिवेशवाद का उन्मूलन, साम्राज्यवाद का विरोध, जातिभेद के विरुद्ध संघर्ष और फिलिस्तीन का प्रश्न ने गुटनिरपेक्ष देशों को एक आंदोलन के मंच पर एकत्र किया था।

वास्तव में शीतयुद्ध के दौरान भी इन प्रश्नों पर गुटनिरपेक्ष आंदोलन की भूमिका बहुत सीमित थी क्योंकि आंदोलन के मंच पर तो संपूर्ण विश्व का ध्यान आकर्षित किया जाता था और सामान्य राजनीतिक एवं नैतिक समर्थन दिया जाता था ताकि समस्याओं का निवारण हो सके। स्वयं गुटनिरपेक्ष आंदोलन ने किसी समस्या का उपचार नहीं किया। इस प्रकार प्रथम तीन मुद्दे अब महत्वहीन हो गए हैं। आज फिलिस्तीन की समस्या गुटनिरपेक्ष आंदोलन के बाहर सुलझाई जा रही है।

शीतयुद्ध के बाद विश्व की सुरक्षा के प्रश्न अब उतने गंभीर नहीं रह गए हैं जितने 1989 तक थे। इसलिए गुटनिरपेक्ष आंदोलन को चाहिए कि अब वह समकालीन विषयों के समाधान पर जोर दे। संसार में हिंसा, आतंकवाद, आर्थिक असमानताएं, पारिस्थितिकीय मुद्दे और मानवाधिकार आज की समस्याएं हैं। दूसरी ओर, गुटनिरपेक्ष आंदोलन के कई उद्देश्यों को तो आज क्षेत्रीय संगठनों ने अपना लिया है। तीसरी दुनिया के देशों में जो तकनीकी और आर्थिक परिवर्तन हुए हैं, वे एक जैसे नहीं हैं। परिणामस्वरूप गुटनिरपेक्ष देशों में समृद्धि और जीवन के स्तर पर असमानताओं व विषमताओं को दृष्टिगत रखते हुए यह कहा जा सकता है कि यदि भविष्य में इस आंदोलन की कोई भूमिका होनी है तो उसे बार-बार दोहराए गए, घोषणा पत्र जारी करने के स्थान पर नई चुनौतियों का सामना करना होगा। इनमें विकासशील देशों के लिए तकनीकी ज्ञान और पूंजी निवेश, स्वास्थ्य और शिक्षा संबंधी प्रबंधन, मानव अधिकार और संसार में नए उभर रहे आर्थिक संबंध शामिल हैं। आर्थिक असमानताओं को दूर करने के प्रयास भी इन्हीं चुनौतियों का हिस्सा है जिसे दूर करना होगा।

उसको अब नशीले पदार्थों की समस्या, महिलाओं का शोषण, निर्धनता बीमारी और पर्यावरण प्रदूषण जैसी समस्याओं पर अपनी पूरी ऊर्जा केन्द्रित करनी होगी। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि गुटनिरपेक्ष आंदोलनों के कार्यक्षेत्रों में परिवर्तन आज के समय की मांग है।

भारत की आर्थिक कूटनीति (India's Economic Diplomacy)

समय-समय पर इस शब्द की परिभाषाओं पर चर्चा होती रही है और उनका विश्लेषण भी किया जाता रहा है। कूटनीति अपनी प्रकृति में राजनीतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और वाणिज्यिक हो सकती है। परंपरागत अर्थों





में कूटनीति प्रकृति में राजनीतिक है, लेकिन वैश्वीकरण के साथ इसमें आर्थिक संबंधों को सम्मिलित करने के लिए इसके क्षेत्र का विस्तार किया गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि वाणिज्यिक संबंध राष्ट्रों के बीच मजबूत रिश्तों को बनाने और उन्हें बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

यह सर्वमान्य तथ्य है कि समकालीन विश्व में आर्थिक कूटनीति अन्य राष्ट्रों के साथ किसी राष्ट्र के राजनीतिक संबंधों को बहुत हद तक प्रभावित करती है। किसी राष्ट्र के राजनीतिक और आर्थिक संबंधों को आज एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। इसलिए, अगर कोई राष्ट्र बाकी दुनिया से सुदृढ़ संबंध स्थापित करना चाहता है, तो उसके राजनीतिक और आर्थिक रिश्तों में सामंजस्य होना अनिवार्य हो गया है क्योंकि दोनों ही एक-दूसरे के पूरक हैं।

यहां यह उल्लेखनीय है कि आर्थिक कूटनीति के तहत, ऐसी नीतियां बनाई जाती हैं, जो उत्पादन, माल के विनिमय, सेवाओं और सीमा-पार निवेश के विकल्पों को नियंत्रित करती है। दूरदर्शितापूर्ण दृष्टि से देखने में यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्थिक कूटनीति इच्छुक राष्ट्रों के बीच वार्ताओं के जरिए व्यापार और निवेश के अवरोधों में कमी लाकर अर्थात् प्रशुल्क और गैर-प्रशुल्क अवरोधों को हटाकर व्यापार और निवेश को सुगम बनाती है। बाजार, कच्चे माल, संसाधनों और पूंजी तक पहुंच बनाना भी ऐसी वार्ताओं का उद्देश्य हो सकता है।

विकसित राष्ट्रों के साथ-साथ विकासशील राष्ट्रों के लिए भी आर्थिक कूटनीति अत्यधिक महत्वपूर्ण नीतिगत पहल बन चुकी है। ज्यादातर विकासशील राष्ट्र आर्थिक कूटनीति का प्रयोग अपनी वैश्विक उपस्थिति दर्ज कराने और अन्य राष्ट्रों के साथ अपने संबंधों का विस्तार विकासशील और अल्प विकसित राष्ट्रों तक भी कर रहे हैं। व्यापार और निवेश संबंधों को बढ़ाना मुख्य रूप से आर्थिक कूटनीति के अंतर्गत आता है। व्यापार और निवेश समझौते के अतिरिक्त राष्ट्र जरूरतमंद अर्थव्यवस्थाओं को सहायता और ऋण दे सकते हैं।

भारत के घरेलू आर्थिक परिदृश्य पर एक नजर डालने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि विकासशील राष्ट्रों में, भारत तेजी से बढ़ती हुई अर्थव्यवस्थाओं में से एक है। 90 के दशक के शुरू में नई आर्थिक नीति अपनाने के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था को खोलने का रास्ता साफ हुआ। अर्थव्यवस्था के विकास ने न केवल नीति-निर्माताओं और अर्थशास्त्रियों का ध्यान आकर्षित किया है, बल्कि उन पूंजीपतियों को भी आकर्षित किया है जो अब भारतीय अर्थव्यवस्था में निवेश के लिए इच्छुक हैं। विश्व के दूसरे राष्ट्रों और बाजारों के साथ भारत के बढ़ते व्यापार और निवेश संबंधों से भारतीय और विदेशी दोनों कंपनियों के लिए एक-दूसरे के अनुभवों को बांटने और उनसे सीखने की सहभागितापूर्ण पृष्ठभूमि बननी आरंभ हो गई है। ऐसी स्थिति में उज्ज्वल आर्थिक संभावनाओं और लाभ के साथ भारत की आर्थिक कूटनीति के विकास, उसकी वर्तमान प्रक्रियाओं और भावी संभावनाओं को समझना नितांत आवश्यक हो गया है।

अंग्रेजी पराधीनता से मुक्ति के बाद भारतीय नीति-निर्माताओं ने पूर्व सोवियत संघ से प्रभावित विकास का 'समाजवादी' मॉडल अपनाया। 'महालनोबिस मॉडल' नामक एक आर्थिक योजना प्रणाली तैयार की गई और संतुलित विकास सुनिश्चित करने के लिए पंचवर्षीय योजनाओं का भी सूत्रीकरण किया गया। आयोजन का मुख्य उद्देश्य आर्थिक तौर पर देश को आत्मनिर्भर स्वरूप प्रदान करना था।

प्रारंभिक नीतियां प्रकृति से संरक्षणवादी थीं, जिनमें राज्य का हस्तक्षेप, केंद्रीय नियोजन और कारोबार नियमन शामिल थे। इनके कारण राष्ट्र में व्यापार करने के लिए कई तरह के लाइसेंसों की जरूरत पड़ती थी। हालांकि विकास नीति को शुरू में तो सफलता मिली, लेकिन प्रणाली के निष्प्रभावी सिद्ध होने के कारण इसका प्रभाव धीरे-धीरे समाप्त होता चला गया। अर्थव्यवस्था को सन् 1991 में भुगतान संतुलन की भयानक समस्या से जूझना पड़ा। इसके बाद भारत ने अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund-IMF) द्वारा प्रस्तावित ढांचागत सुधार कार्यक्रम (Structural Adjustment Programme-SAP) को अंगीकार किया।

आर्थिक सुधारों की दृष्टि से वर्ष 1991 के आर्थिक सुधारों का अपना विशेष महत्व है। इसके तहत लाइसेंस राज जैसी पिछली योजना रणनीति की खामियों को और सरकारी एकाधिपत्य को खत्म कर दिया गया। इन सुधारों के कारण कई क्षेत्रों में विदेशी प्रत्यक्ष निवेश की स्वीकृति अपने आप मिलने लगी। विदेशी प्रत्यक्ष निवेश का दायरा समय-समय पर बढ़ाया भी जाता रहा है। सन् 1990 से भारत मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था के रूप में उभरा है और दुनिया की सबसे तेजी से बढ़ने वाली अर्थव्यवस्थाओं में इसकी गणना होने लगी है। प्रभावशाली एवं सतत आर्थिक वृद्धि, अन्य सामाजिक एवं आर्थिक संकेतकों में सुधार और बहुपक्षीय मंचों पर भागीदारी

ने भारतीय अर्थव्यवस्था को पिछले दो दशकों में नई दिशा दी है, साथ ही इसकी नई तस्वीर उभर कर विश्व के सामने आई है।

व्यापार समझौता वार्ताओं के साथ उदारीकरण के कारगर इस्तेमाल से भारत को अपने आर्थिक संबंधों के नेटवर्क के विस्तार में मदद मिली है। पिछले कुछ वर्षों में भारत में सेवा क्षेत्र वृद्धि का मुख्य उत्प्रेरक रहा है। राष्ट्र के सकल घरेलू उत्पाद (Gross Domestic Product-GDP) में सेवा सेक्टर का योगदान 50% से अधिक है और इसका मुख्य बाजार अमेरिका है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भारत धीरे-धीरे विश्व अर्थव्यवस्था का केंद्र बनता जा रहा है।

भारत में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश समय के साथ बढ़ता रहा है। यद्यपि वैश्विक आर्थिक संकट के कारण भारत में आने वाले प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (Foreign Direct Investment) की वृद्धि दर प्रभावित हुई लेकिन निरपेक्ष एफडीआई अंतर्वाह के क्वांटम पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। मॉरिशस भारत में सबसे बड़ा निवेशक रहा है। इस सिलसिले में मॉरिशस के साथ दोहरा कर अपवचन समझौता (Double Tax Avoidance Agreement-DTAA) कारगर साबित हुआ है। इसके बाद सिंगापुर और अमेरिका का स्थान आता है।

भारत के ज्यादातर अर्थशास्त्री भारत को उभरती आर्थिक महाशक्ति के रूप में देख रहे हैं। इसका मुख्य कारण अच्छा आर्थिक विकास एवं निवेश संबंधों में विस्तार है। माना जा रहा है कि भारत 21वीं सदी में वैश्विक अर्थव्यवस्था में प्रमुख भूमिका निभाएगा। लेकिन महज अच्छे आर्थिक प्रोफाइल का अर्थ यह नहीं है कि इससे बड़े लाभ मिलेंगे। इसके लिए उपयुक्त अन्य नीतियों, खासकर आर्थिक कूटनीति से संबंधित नीतियों की भी आवश्यकता है। वैश्वीकृत दुनिया में तेजी से विकसित होती अर्थव्यवस्था के कारण पैदा होने वाली चुनौतियों से निपटने के लिए भारत की विदेश नीति में आर्थिक कूटनीति एक महत्वपूर्ण युक्ति है जिसके साथ हम अच्छे आर्थिक भविष्य के प्रति भी आशावान रह सकते हैं।

भारत के लिए एक प्रभावी आर्थिक कूटनीति की आवश्यकता क्यों?

(Why India needs an Effective Economic Diplomacy)

आर्थिक कूटनीति किसी भी देश की अर्थव्यवस्था का महत्वपूर्ण कारक होता है। भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास एवं आर्थिक वैश्वीकरण (Economic Globalisation) के संदर्भ में भी इसका महत्व उतना ही प्रासंगिक है। खुली अर्थव्यवस्था में भावी घरेलू आर्थिक प्रगति और समृद्धि बहुत हद तक दूसरे राष्ट्रों के साथ संबंधों पर निर्भर करती है। इसके अतिरिक्त, घरेलू बाजार को खोलने से वह वैश्विक उत्पादन और निवेश (Global Production and Investment) नेटवर्क का हिस्सा बन जाती है। इस नेटवर्क से अलग-थलग रहने से भारत का विकास बाधित हो सकता है। इस बात की भी आशंका रहती है कि वैश्विक मुद्दे घरेलू मुद्दों और प्रक्रियाओं को बहुत प्रभावित करते हैं, जिससे कारगर आर्थिक कूटनीति की जरूरत बढ़ जाती है। वैसे भी यह भावी व्यापार और निवेश के अच्छे परिणामों के लिए अपरिहार्य है। चूंकि भारत की महत्वाकांक्षा अपनी आर्थिक वृद्धि दर को बढ़ाने की है, इसलिए इस पहलू को महत्वपूर्ण माना जा रहा है। विदेश मंत्रालय पिछले साल से आर्थिक कूटनीति के लिए एक अलग बजट निर्धारित करता आ रहा है, जिसमें क्रैंता-विक्रेता की बैठकें आयोजित करना और विदेशों में 'ब्रांड इंडिया' को प्रोत्साहन देना शामिल है। 16 राष्ट्र वाले 'पूर्व एशिया सम्मेलन' और पांच राष्ट्रों वाले 'दक्षिण अफ्रीकी कस्टम्स संघ (South African Customs Union-SACU) सरीखे क्षेत्रीय संगठनों के साथ मुक्त व्यापार समझौतों (Free Trade Agreements) की दिशा में भारत आगे बढ़ रहा है। आसियान, दक्षिण कोरिया, सिंगापुर, श्रीलंका, नेपाल और भूटान के साथ एफटीए पर पहले ही दस्तखत किए जा चुके हैं। आसियान के साथ वस्तु (Goods) संबंधी मुक्त व्यापार समझौता किया गया है।

वैश्वीकरण के कारण, भारतीय कंपनियां विलय एवं अधिग्रहण तथा संयुक्त उद्यमों के माध्यम से तेजी से अपना विस्तार करती रही हैं। उन्होंने घरेलू और अंतर्राष्ट्रीय नीतियों को अपने पक्ष में करने के लिए हर संभव प्रयास किए हैं। इसके अच्छे नतीजे निकल सकते हैं। भारत के व्यापार और सीमा पार निवेश में निरंतर वृद्धि होती रही है। इक्विटी और विदेशी प्रत्यक्ष निवेश दोनों के रूप में निर्गामी और बहिर्गामी पूंजी प्रवाह में वृद्धि हुई है। अर्थव्यवस्था का सेवा क्षेत्र सीमा पार निवेश और व्यापार के इस मामले में महत्वपूर्ण रहा है। सूचना प्रौद्योगिकी संबंधित सेवाओं (Information Technology Enabled Services-ITES) के क्षेत्र में असीम संभावनाएं नजर आ रही हैं।





घरेलू आर्थिक नीतियों को आर्थिक कूटनीति से अलग नहीं किया जा सकता। वैश्विक अर्थव्यवस्था या व्यापार संबंधी मुद्दे जटिल हैं, इसलिए वार्ताओं के दौरान अधिकतम लाभ लेने और कारगर समझौते का प्रारूप तैयार करने के लिए ऐसे दक्ष लोगों की आवश्यकता है, जो विश्व व्यापार संगठन (WTO) जैसे बहुपक्षीय संगठनों के ढांचे के भीतर प्रभावशाली तरीके से अपनी बात रख सकें। यह भी कि वैश्वीकरण के परिणामस्वरूप आर्थिक कूटनीति के दायरे में आने वाले राष्ट्रों को संख्या तेजी से बढ़ी है। बहुपक्षीय और क्षेत्रीय संघों में राष्ट्रों की बढ़ती संख्या को देखते हुए आर्थिक राजनयिकों के कौशल को और भी निखारने की जरूरत है।

लगभग यह स्पष्ट हो चुका है कि आने वाले दशकों में एशिया और विश्व में भारत प्रमुख अर्थव्यवस्था के रूप में उभरेगा। अतः उसे दीर्घकालिक, प्रभावोत्पादक आर्थिक नीतियां अपनानी होंगी। सकल घरेलू उत्पाद (Gross Domestic Product-GDP) में सतत वृद्धि के लिए भारत ने आर्थिक कूटनीति पर अधिक जोर देने का फैसला किया है। लिहाजा वह कई राष्ट्रों और क्षेत्रीय संगठनों के साथ व्यापार और निवेश संबंधी समझौतों के लिए अपनी वार्ता में तेजी ला रहा है। जनसांख्यिकी प्रोफाइल, मानवीय कौशल और बाजार के बड़े एवं बढ़ते आकार को दृष्टिगत रखते हुए राष्ट्र के विकास के लिए सक्षम आर्थिक कूटनीति और आर्थिक नीतियां बहुत महत्वपूर्ण हैं।

भारत की आर्थिक कूटनीति की समीक्षा (Review of India's Economic Diplomacy)

सतत वृद्धि, विदेशी मुद्रा भंडार में बढ़ोत्तरी, निर्यात में वृद्धि, बढ़ते विदेशी निवेश और सभी वृहत् (Macro) आर्थिक संकेतकों को भारतीय अर्थव्यवस्था का मूल तत्व समझा जाता है। इनमें पिछले कुछ वर्षों से अनवरत वृद्धि देखने में आई है। आने वाले वर्षों में भारत के लिए आर्थिक भविष्यवाणियाँ इन रुझानों के जारी रहने की ओर संकेत करती हैं। प्रारंभ में भारत की आर्थिक नीति राजनीतिक उद्देश्य से प्रेरित थी, जिसे सन् 1990 के दशक में अपनी विदेश नीति में बदलाव लाते हुए भारत ने अपनी अर्थव्यवस्था को खोल दिया और इस तरह, वह आर्थिक कूटनीति की ओर बढ़ने लगा। यही नहीं, वह राष्ट्रों का विश्वास हासिल करने के लिए सर्वोत्तम प्रक्रियाओं को प्रयोग कर रहा है। इससे उसकी घरेलू नीति का अंतर्राष्ट्रीयकरण हुआ है।

अन्य राष्ट्रों और क्षेत्रों के साथ भारत के बढ़ते समझौतों से स्पष्ट है कि मौजूद और भावी आर्थिक संभावनाओं के साथ, भारत आर्थिक कूटनीति पर बहुत ध्यान देता रहा है। फलतः भारत के आर्थिक संबंध अब किसी विशेष समूह के समान आर्थिक परिस्थितियों वाले राष्ट्रों तक सीमित नहीं रहे। इसने अपने पड़ोसी राष्ट्रों से लेकर छोटे और बड़े राष्ट्रों तक सभी के साथ आर्थिक संबंध स्थापित किए हैं। इन कदमों से राष्ट्र को न केवल आर्थिक रूप से फायदा हुआ, बल्कि अन्य राष्ट्रों में भारत की साख भी बढ़ी है। भारत को इस तरह के व्यापार और निवेश संवर्धन समझौतों से बहुत लाभ हो सकता है। इन समझौतों से भारत के निर्यात बाजार का न केवल विविधीकरण होगा बल्कि भारतीय कंपनियों के लिए निवेश के लिए अवसर मिलने की भी प्रबल संभावना है।

आर्थिक कूटनीति ही एक ऐसा तत्व है जो भारत को वैश्विक वित्तीय मंदी की स्थिति में मददगार सिद्ध हो सकता है। एक बार व्यापार और निवेश समझौतों के प्रभावी हो जाने पर आर्थिक वृद्धि दर बढ़ेगी, प्रत्यक्ष एवं परोक्ष नए रोजगारों का सृजन होगा और लोगों का जीवन स्तर ऊंचा होगा। विभिन्न राष्ट्रों के साथ कारगर आर्थिक समझौते आर्थिक महाशक्ति के रूप में भारत के उभरने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाएंगे। इस संभावना से भी इनकार नहीं किया जा सकता।

आर्थिक कूटनीति का भविष्य (Future of Economic Diplomacy)

संचार क्रांति के इस युग में आर्थिक कूटनीति के पहलू उसके किसी भी अन्य रूप की तुलना में अधिक चुनौतीपूर्ण हैं। दरअसल, वाणिज्यिक और आर्थिक कूटनीति किसी राष्ट्र राज्य की राजनीतिक अर्थव्यवस्था से प्रत्यक्षतः जुड़ी होती है जो वैश्वीकरण के इस युग में बहुत महत्वपूर्ण है। अतः भारत के आर्थिक कूटनीति के मिशन को आगे बढ़ाने और नीतियों तथा समझौतों को कारगर बनाने के लिए प्रशिक्षित, विशिष्ट और सुविज्ञ विशेषज्ञों की जरूरत है क्योंकि बिना निपुण व चातुर्थपूर्ण लोगों के आर्थिक कूटनीति को प्रभावी नहीं बनाया जा सकता। विशेषज्ञों के बाद दूसरी जरूरत सर्वोत्तम संभव चयन और विकल्पों की खोज के लिए आर्थिक फैसलों को आर्थिक शोध से जोड़ने की है। अपनी आर्थिक कूटनीति की सफलता के लिए भारत को व्यापार,

प्रौद्योगिकी और निवेश के प्रवाह में सतत वृद्धि करनी होगी। साथ ही साथ उसे प्रस्तावित समझौते की व्यवहार्यता के अध्ययन के साथ-साथ विश्लेषण, पैरोकारी तथा विवाद निपटारे के लिए शीर्ष व्यापार एवं उद्योग संगठनों से जुड़ना होगा। भारत की ब्रांड छवि निर्माण में निजी क्षेत्र को प्रोत्साहन देने से अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को बढ़ाने में बहुत मदद मिल सकती है।

इनके अतिरिक्त एक अन्य आवश्यकता समन्वयन की है। कार्यक्रमों व विकास सहयोग नीतियों के बेहतर समन्वयन के बिना आर्थिक कूटनीति को सभी लक्ष्यों से नहीं जोड़ा जा सकता। प्रवासी संबंधों को बढ़ावा महत्वपूर्ण साबित हो सकता है क्योंकि आयुर्विज्ञान और सूचना प्रौद्योगिकी जैसे क्षेत्रों में भारतीय प्रवासियों के योगदान को व्यापार रूप से स्वीकार किया जा रहा है। यही नहीं इससे ज्ञान के आदान-प्रदान में तो वृद्धि होगी ही, साथ ही साथ प्रौद्योगिकी हस्तांतरण को भी बढ़ावा मिलेगा।

प्रत्यक्ष एवं परोक्ष व्यापार संबंधों को बढ़ाने के साथ-साथ बाजार बनाने की रणनीति का विकास तथा परामर्श एवं प्रोजेक्ट निर्यात के अवसर के सृजन में प्रवासी भारतीय भी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। बेहतर शासन, बेहतर विश्व के निर्माण में भागीदारी और व्यापारिक एवं वित्तीय हितों के परस्पर जुड़ने से भारत को लाभ होगा। विश्व व्यापार संगठन (World Trade Organisation) जैसे बहुपक्षीय संगठनों में आर्थिक कूटनीति के कारगर प्रयोग के अतिरिक्त भारत 'संयुक्त राष्ट्र व्यापार एवं विकास सम्मेलन' (UNCTAD) और 'विश्व बौद्धिक संपदा संगठन' (World Intellectual Property Organization- WIPO) जैसे संगठनों के जरिए भी अपने लाभ में वृद्धि कर सकता है। शुल्क घटाने और व्यापार एवं निवेश संबंधी अवरोधों को खत्म करने के लिए कारगर समझौता वार्ताओं का आयोजन भी जरूरी है।

भारत को उभरती हुई आर्थिक शक्ति तो मान लिया गया है, लेकिन उसे भ्रष्टाचार के स्तर को कम करने, सहयोग बढ़ाने और व्यापार बाधाओं को खत्म करने के लिए प्रभावी कार्यनीति बनाने की आवश्यकता है। यह भी कि राष्ट्र में बौद्धिक संपदा अधिकार के संरक्षण के लिए कारगर व्यवस्था की जरूरत है। चूंकि ज्ञान का आदान-प्रदान, नवीन प्रक्रियाएं, प्रौद्योगिकी हस्तांतरण, अंतरिक्ष एवं ऊर्जा शोध कार्यक्रम, सभी अच्छी एवं सक्रिय आर्थिक कूटनीति से जुड़े हुए हैं इसलिए भारत की आर्थिक कूटनीति की भूमिका संकीर्ण नहीं होनी चाहिए। समझौता वार्ता और सहयोग का ढांचा क्षेत्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्र के संबंधों पर केंद्रित होना चाहिए। आर्थिक कूटनीति के पारस्परिक लाभ राजनीतिक कूटनीति और अर्थव्यवस्था के लिए भी उपयोगी है, यह ध्यान में रखना अनिवार्य है।



14. उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद



वाणिज्यवाद के विकास के साथ उपनिवेशवाद का प्रसार आरंभ हुआ उपनिवेशवाद का यह मानना था कि उपनिवेश मातृदेश या महानगरीय राज्य के हित के लिए अर्थ रखता था तथा उपनिवेशों से यह अपेक्षा की जाती थी, कि वह महानगरीय राज्य को कीमती धातु प्रदान करें, एवं कच्चे माल प्रदान करें महानगरीय राज्य से तैयार माल का खपत करे। 15वीं-16वीं सदी के आरंभ में उपनिवेशवाद के प्रसार के निम्नलिखित कारण थे-

1. **भौगोलिक अन्वेषण:** कुस्तुनतुनिया के पतन के पश्चात् नए मार्गों की खोज आरंभ हुई। इसमें पहल पुर्तगाल एवं स्पेन के द्वारा की गई थी किंतु शीघ्र ही इस दौर में ब्रिटेन, हॉलैण्ड और फ्रांस भी शामिल हो गए। परिणामस्वरूप 17वीं सदी तक अफ्रीका के मुख्य भाग और ऑस्ट्रेलिया को छोड़कर लगभग संपूर्ण दुनिया की खोज कर ली गई।
2. **नौपरिवहन तकनीकी का विकास:** नौपरिवहन तकनीकी के विकास के परिणामस्वरूप ही व्यापक सामुद्रिक गतिविधियां संभव हुई। दिशा सूचक अथवा स्ट्रोलैब के प्रयोग के कारण नौपरिवहन गतिविधियां आसान हो गईं।
3. **यूरोपीय अर्थव्यवस्था का प्रसार:** इस काल में यूरोपीय अर्थव्यवस्था का भी विकास हो रहा था। इसके परिणामस्वरूप नवधनाढ्य वर्ग अस्तित्व में आया और इसने विलासिता संबंधी वस्तुओं की मांग बढ़ा दी। इस कारण से भी औपनिवेशिक प्रसार को बल मिला।
4. **पुनर्जागरण तथा धर्म सुधार आंदोलन की भूमिका:** पुनर्जागरण ने लोगों में साहसिक मनोभावों को प्रोत्साहित किया। इस कारण से भी भौगोलिक अन्वेषण को प्रोत्साहन मिला। उसी प्रकार धर्म सुधार आंदोलन ने यूरोपीय लोगों को प्रेरित किया कि वे नए क्षेत्रों में ईसाई धर्म के प्रसार के लिए काम करें इस प्रकार धर्म सुधार आंदोलन ने भी औपनिवेशिक प्रसार को बल प्रदान किया।
5. **यूरोप के महत्वाकांक्षी शासकों के द्वारा कीमती धातुओं के संग्रह पर बल दिया जाना:** वस्तुतः वाणिज्यवादी नीति के तहत यूरोप के महत्वाकांक्षी शासकों ने कीमती धातुओं के संग्रह पर बल दिया था क्योंकि उस समय जिस राष्ट्र के पास जितनी कीमती धातु उपलब्ध थी उसे उतना ही शक्तिशाली राष्ट्र माना जाता था। अमेरिका की खोज के पश्चात् पहले लैटिन अमेरिका फिर उत्तरी अमेरिका का औपनिवेशीकरण हुआ। एक तरह से अगर देखा जाए तो अमेरिका की खोज एक आकस्मिक घटना थी किंतु अमेरिका की खोज यूरोपीय राष्ट्रों के लिए बहुत उपयोग सिद्ध हुई क्योंकि अमेरिका से प्राप्त धातुओं के बिना यूरोपीय राष्ट्र भारत अथवा एशियाई व्यापार का संचालन नहीं कर सकते थे।

सबसे पहले स्पेन के द्वारा लैटिन अमेरिका का औपनिवेशीकरण किया गया। इस क्रम में मैक्सिको, पेरू और बोलिविया में चांदी की खुदाई करने वाली खानें स्थापित की गईं उसी प्रकार पुर्तगाल ने ब्राजील पर कब्जा किया। कुछ क्षेत्रों पर ब्रिटेन, हॉलैंड, और फ्रांस का भी कब्जा हुआ किंतु मुख्यतः ब्रिटेन, हॉलैंड और फ्रांस ने उत्तरी अमेरिकी में 13 बस्तियां स्थापित की जब फ्रांस ने कनाडा पर कब्जा किया।

स्पेन ने लैटिन अमेरिका के उतने बड़े क्षेत्र पर कब्जा किया जो स्वयं मातृदेश से चार गुना अधिक आकार वाला था यूरोपीय देशों ने लैटिन अमेरिका में वहां की देशी सभ्यताओं में इका एवं ऐजटेक सभ्यताओं को नष्ट किया तथा वहां के देशी लोग रेड इंडियन को दबाया। फिर यूरोपीय लोगों ने यहां नए प्रकार की बिमारियां भी फैला दी जिस कारण से वहां एक बड़ी जनसंख्या नष्ट हो गई।

यूरोपीय लोगों ने अफ्रीका के तटीय क्षेत्रों का भी औपनिवेशीकरण किया। अफ्रीका से वे बड़ी संख्या में दास प्राप्त करते थे, साथ ही सोना एवं काली मिर्च भी प्राप्त करते थे। यूरोपीय इतिहास का सबसे घिनौना रूप था दास व्यापार। इस दास व्यापार के कारण लगभग 13 मिलियन अफ्रीकी जनसंख्या विश्व के अन्य क्षेत्रों में स्थानांतरित हुई। दास व्यापार अरब वालों ने आरंभ किया था लेकिन विभिन्न यूरोपीय देश इसमें शामिल हो गए। लगभग 300 वर्षों तक दास व्यापार चलता रहा है। अंत में यूरोप में दास व्यापार समाप्त करने की मानवावादी मांगें उठीं लेकिन यह मांग भी अफ्रीकी लोगों के लिए घातक सिद्ध हुई क्योंकि दास व्यापार को रोकने के नाम पर भी 19वीं सदी में यूरोपीय देशों ने अफ्रीकी पर अपना कब्जा जारी रखा।

इस काल में एशियाई क्षेत्रों के साथ भी यूरोपीय व्यापारियों ने अपने व्यापारिक संबंध जारी रखे किंतु आरंभिक काल में वे एशिया में बल प्रयोग की स्थिति में नहीं थे इसलिए वे प्रतिवेदक एवं व्यापारी के रूप



में एशियाई देशों से सम्पर्क बनाए रखा। किंतु जैसा कि हम देखते हैं कि 18वीं सदी के यूरोप में वाणिज्यवादी नीति की कड़ी आलोचना आरंभ हो गई थी तथा मुक्त अर्थव्यवस्था की नीति को बल दिया जाने लगा था। 1776 में ब्रिटिश अर्थशास्त्री, एडम स्मिथ, ने वेल्थ ऑफ नेशन्स नामक पुस्तक लिखकर वाणिज्यवादी नीति की आलोचना जारी रखी। आगे कॉबडेन, जेम्स मिल आदि विद्वानों ने भी वाणिज्यवादी नीति पर कड़ा प्रहार किया। सबसे बढ़कर 1776 ई. में ही अमेरिकी क्रांति हुई। इसके परिणामस्वरूप अमेरिका स्वतंत्र हो गया उधर 19वीं सदी के आरंभिक दशकों में लैटिन अमेरिका स्थित स्पेन एवं पुर्तगाल के उपनिवेशों में राष्ट्रीय आंदोलन आरंभ हो गया था तथा 1815, और 1825 के बीच एक सैनिक जनरल साइमन बोलिवर के नेतृत्व में अधिकतर लैटिन अमेरिकी उपनिवेश स्वतंत्र हो गए। फिर महानगरीय राज्यों में एक उपनिवेशवाद से एक प्रकार के मोहभंग का परिणाम था। 1852 में ब्रिटिश प्रधानमंत्री डिज़रैली ने यह घोषित किया कि ये उपनिवेश हमारे गले में लटके हुए पत्थर की तरह हैं तो फिर ऐसा क्या हुआ कि यह उपनिवेशवाद 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में परिवर्तित रूप में प्रकट हुआ जिसे नव-उपनिवेशवाद अथवा साम्राज्यवाद के नाम से जाना गया।

इस कथन की व्याख्या प्रायः औद्योगिक पूंजीवाद के विकास के संदर्भ में की जाती है। सबसे पहले जे. ए. हॉब्सन नामक विद्वान ने इसकी व्याख्या औद्योगिक पूंजीवाद एवं बाजार के संदर्भ में करने की कोशिश की थी। हमें यह ज्ञात है कि साम्राज्यवाद अथवा इम्पीरियलिज्म शब्द का प्रयोग 1880 के दशक तक नहीं हुआ था। जब 1883 में मार्क्स की मृत्यु हुई तब तक स्वयं मार्क्स ने भी इम्पीरियलिज्म शब्द का प्रयोग नहीं किया था किंतु 19वीं सदी के अंत तक यूरोपीय विद्वानों के द्वारा इम्पीरियलिज्म शब्द का प्रयोग बहुत ही सामान्य हो गया। जे. ए. हॉब्सन ने भी 1902 में इम्पीरियलिज्म-ए-स्टडी नामक पुस्तक लिखी और उसमें यह सिद्ध करना चाहा कि पूंजीवाद अत्यधिक मुनाफा कमाने के जोश में अपने श्रमिकों को उचित तनखाह से वंचित रखता है इसलिए उसका स्वयं का बाजार छोटा हो जाता है और फिर वह अतिरिक्त बाजार के लिए साम्राज्यवादी प्रसार में लग जाता है। हॉब्सन ने इसका एक समाधान भी बताया और वह यह कि अगर संबंधित देश में आर्थिक पुनर्वितरण कर दिया जाए तो अपना घरेलू बाजार ही इतना विस्तृत हो जाएगा कि साम्राज्यवादी प्रसार की जरूरत नहीं रह जाएगी।

किंतु लेनिन यहां हॉब्सन से मतभेद रखता है। उसके अनुसार पूंजीवाद का समाधान एक मात्र उसका अंत ही है उसमें आंतरिक सुधार संभव नहीं है। उसने 1916 में एक पैम्पलेट लिखा जिसका नाम था 'साम्राज्यवाद पूंजीवाद का सर्वोच्च चरण'। उसमें इसने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि पूंजीवाद अपने आप को श्रमिक असंतोष से बचाने के लिए उपनिवेशों की ओर चल पड़ा तथा उसने उपनिवेशों की जनता का शोषण प्रारंभ किया। इसी संदर्भ में लेनिन ने उपनिवेश की जनता को नए सर्वहारा का नाम दिया। लेनिन का मानना था कि इसी क्रम में साम्राज्यवाद का विकास हुआ किंतु लेनिन का यह भी विश्वास था कि साम्राज्यवाद के इस चरण में पूंजीवाद शक्तियों के बीच स्वयं टकराहट शुरू होगी जिसके कारण पूंजीवाद कमजोर पड़ जाएगा और इसका फायदा उठाकर सर्वहारा वर्ग अपनी सत्ता स्थापित कर लेगा।

लेनिन ने साम्राज्यवाद को वित्तीय पूंजीवाद से भी जोड़कर देखा था। लेनिन का कहना था कि जब औद्योगिक क्रांति के पश्चात् पूंजी का संचय हुआ तो फिर पश्चिमी पूंजीवादी देशों ने उपनिवेशों में पूंजी निवेश में दिलचस्पी दिखाई। इसके दो कारण थे, प्रथम उपनिवेशों में श्रम सस्ता था इसलिए पूंजी पर मुनाफा अधिक मिलता। फिर उपनिवेशों में भी अगर खनन क्षेत्र में निवेश किया जाता तो फिर भारी उद्योगों के लिए कच्चे माल की प्राप्ति की भी संभावना थी। इसलिए लेनिन का मानना था कि वित्त के निवेश के लिए भी साम्राज्यवादी प्रसार को बल मिला था।

हालांकि यहां लेनिन का दृष्टिकोण निर्दोष नहीं है वरन् उसके विचारों की अपनी सीमा है। नवीन शोधों के आधार पर यह बात लगभग स्थापित हो गई है कि पश्चिमी देशों में उपनिवेशों से अधिक अमेरिका, कनाडा तथा रूस जैसे विकसित क्षेत्रों में ही पूंजी लगायी थी इसलिए लेनिन का दावा शत प्रतिशत सही नहीं माना जा सकता। फिर भी हम नव उपनिवेशवाद अथवा साम्राज्यवाद के विकास में औद्योगिक क्रांति के महत्व को कम करके नहीं देख सकते। नव उपनिवेशवाद अथवा साम्राज्यवाद की मूल उत्प्रेरणा औद्योगिक क्रांति रही थी। औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप पश्चिमी देशों को बाजारों की जरूरत हुई विशेषकर इसलिए भी ये देश एक दूसरे पर चुंगी की बाधाएं लगा रहे थे। वैसी स्थिति में नए क्षेत्रों में बाजार तलाशना आवश्यक हो गया। इसके अतिरिक्त वित्त निवेश एवं कच्चे माल की प्राप्ति के लिए भी उपनिवेशों की ओर जाना स्वाभाविक था।



इस प्रकार साम्राज्यवाद अथवा 19वीं सदी के नव-उपनिवेशवाद के पीछे औद्योगिक क्रांति निश्चय ही महत्वपूर्ण उत्प्रेरणा थी लेकिन यही एक मात्र उत्प्रेरणा नहीं थी अपितु और भी कई ऐसे कारक थे जिन्होंने नव उपनिवेशवाद अथवा नवसाम्राज्यवाद को प्रेरित किया। इनमें एक महत्वपूर्ण कारक था राष्ट्रवाद अथवा राष्ट्रीय गौरव की भावना। पश्चिमी साम्राज्यवादियों ने साम्राज्यवादी प्रसार को राष्ट्रीय गौरव की भावना से भी जोड़ दिया। एक ब्रिटिश गर्व के साथ घोषित करता है कि हमारे साम्राज्य में सूर्यास्त नहीं होता है तो एक जर्मन जवाबी नारा देता कि हमें भी सूर्य के नीचे जमीन चाहिए। अमेरिका ने घोषणा की 20वीं सदी अमेरिकावासियों के लिए है तो जापान ने यह घोषित किया एशिया वालों के लिए है। इस तरह साम्राज्यवाद का मुद्दा राष्ट्रीय उपलब्धि एवं गौरव से जुड़ गया। अब प्रश्न उपस्थित होता है कि साम्राज्यवाद को पश्चिमी राष्ट्रों के किस वर्ग का समर्थन प्राप्त हुआ था। आरंभ में ऐसा माना जाता था की नव उपनिवेशवाद अथवा साम्राज्यवाद को कुलीनों एवं मध्यवर्ग का समर्थन प्राप्त था किंतु नवीन शोधों ने यह स्थापित किया है कि इन देशों में साम्राज्यवाद को सभी वर्गों का समर्थन प्राप्त था। कुलीन वर्ग, मध्यवर्ग, जन सामान्य एवं निम्न वर्ग, बुद्धिजीवी नेता सभी साम्राज्य के निर्माण तथा उनके संरक्षण के समर्थक थे। सबसे बढ़कर आंतरिक सामाजिक तनाव तथा वर्ग संघर्ष को रोकने के लिए जानबूझकर भी साम्राज्यवादी प्रसार को प्रोत्साहन दिया गया ताकि लोगों का ध्यान आंतरिक मुद्दों से हटकर बाह्य मुद्दों पर टिक जाए। इसे सामाजिक साम्राज्यवाद का नाम दिया गया क्योंकि साम्राज्यवाद के माध्यम से सामाजिक तनावों का निर्यात किया जा रहा था।

नव उपनिवेशवाद अथवा साम्राज्यवाद के प्रसार को यूरोपीय कूटनीति के संदर्भ में भी व्याख्या की जा सकती है। दूसरे शब्दों में विस्मार्क के द्वारा अफ्रीका का जो विभाजन किया गया था उसका एक प्रमुख उद्देश्य था यूरोपीय शक्तियों का ध्यान यूरोप से हटाकर अफ्रीका की तरफ, मोड़ना, इस तरह अफ्रीका का विभाजन उसके कूटनीतिक प्रयास का भी नतीजा था।

साम्राज्यवादी प्रसार में इसाई मिशनरियों ने भी बढ़-चढ़ कर भूमिका निभाई। इन मिशनरियों का लक्ष्य था नए क्षेत्रों में इसाई धर्म प्रसार इसलिए इन मिशनरियों ने भी अपनी सरकारों पर दबाव डाला।

फिर साम्राज्यवादी प्रसार में यूरोप के कुछ महत्वाकांक्षी सैनिक जनरलों की भी भूमिका रही थी। वे कार्यस्थल पर सक्रिय थे और कई बार अति उत्साहवाद का शिकार होकर अपनी सरकार के पूर्व अनुमोदन के बिना ही स्वतंत्र रूप में निर्णय ले लेते थे। कई बार तो यूरोप में पराजित सैनिक जनरल अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा को प्राप्त करने के लिए अन्य महाद्वीपों में स्वतंत्र रूप में निर्णय ले लेते थे। इस तरह हम देखते हैं कि 19वीं सदी में नव उपनिवेशवाद अथवा साम्राज्यवाद का प्रसार एक जटिल प्रक्रिया का परिणाम था।

19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में तीव्र गति से नवसाम्राज्यवाद का प्रसार तीव्र गति से देखा गया तथा इसके परिणामस्वरूप अफ्रीका एशिया तथा प्रशांत क्षेत्र में बड़े पैमाने पर साम्राज्यवादी प्रसार हुआ। इसमें सबसे विलक्षण घटना थी अफ्रीका का विभाजन। हमें ज्ञात है कि अफ्रीका महाद्वीप यूरोप के सबसे निकट था किंतु आरंभ में यूरोपीय देशों में एशिया, लैटिन अमेरिका और उत्तरी अमेरिका में प्रसार करने में विशेष दिलचस्पी दिखाई तथा अफ्रीका के केवल तटीय क्षेत्रों में अपने उपनिवेश स्थापित किए। किंतु 1880 के पश्चात् अफ्रीका की ओर इनका आकर्षण तीव्र हो गया। इसका कारण था कि अफ्रीका के कच्चे माल की बहुलता, यूरोपीय उत्पादों के लिए बाजार की जरूरत तथा स्टेनली और लीबिंगस्टोन जैसे विदेशी खोजकर्ताओं की भूमिका। इनके साथ एक कूटनीतिक कारक भी जुड़ गया। अतः 1884 के बर्लिन कांग्रेस में विस्मार्क की अध्यक्षता में 14 देशों ने भाग लिया। इनमें अमेरिका तथा ऑटोमन साम्राज्य भी शामिल थे। इस कांग्रेस के द्वारा अफ्रीकी क्षेत्रों को यूरोपीय राष्ट्रों के बीच विभाजित कर दिया गया। इतना तक की 1880 के दशक से 20 वर्षों के अंदर ही इथियोपिया अथवा अबीसिनीया को छोड़कर लगभग सम्पूर्ण अफ्रीका का उपनिवेशीकरण हो गया। ब्रिटेन ने पूर्वी अफ्रीकी क्षेत्र, नील नदी के आसपास, मिस्र, सूडान, युगान्डा तथा केन्या पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। फ्रांस ने उत्तर पश्चिमी अफ्रीका में ट्यूनिशिया अल्जीरिया के साथ-साथ एक बड़े क्षेत्र पर नियंत्रण स्थापित किया इतना तक की इटली और जर्मनी जिनका एकीकरण बाद में हुआ था वे भी इस दौर में शामिल हो गए। इटली ने लीबिया, इरिट्रिया तथा सोमालिया आदि क्षेत्रों पर कब्जा कर लिया जबकि जर्मनी ने टोगोलैंड, कैमरून, दक्षिण पश्चिमी अफ्रीकी (नामीबिया) तथा दक्षिण पूर्वी अफ्रीका (तंजानिया) पर अपना नियंत्रण स्थापित किया।

एशिया प्रशांत क्षेत्र में भी साम्राज्यवादी प्रसार होता रहा। ब्रिटिश ने बर्मा, फारस की खाड़ी तथा ईरान के कुछ भाग को अपने नियंत्रण में लिया। भारतीय क्षेत्र ब्रिटिश के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण क्षेत्र था और उसके



सम्पूर्ण एशियाई उपनिवेश का लगभग 97 प्रतिशत था। उसी प्रकार फ्रांस ने इंडो-चीन पर कब्जा किया तथा हॉलैण्ड ने इंडोनेशिया पर नियंत्रण बनाए रखा। फिर इस दौड़ में अमेरिका और जापान भी शामिल हो गये। जापान ने कोरिया एवं ताइवान पर कब्जा कर लिया वहीं अमेरिका ने प्रशांत क्षेत्र में 1898 में फिलिपीन्स पर कब्जा कर लिया। अगर भौगोलिक दृष्टि से देखा जाए तो ब्रिटिश ने विश्व के 25% भू-भाग पर जबकि फ्रांस ने 9% भू-भाग पर कब्जा किया। सबसे बढ़कर प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् भी पश्चिमी शक्तियों ने साम्राज्यवादी नियंत्रण को उसी गर्व के साथ बनाए रखा। जर्मनी और ऑस्ट्रिया को पराजित करने के बाद मित्र राष्ट्रों ने अपने पुराने गौरव के साथ सैनिक विजय का उत्सव मनाया तथा अपने साम्राज्य के प्रतीक को बनाए रखा। वह महज संयोग नहीं है कि प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् 17 वर्षों के प्रयास के ब्रिटिश औपनिवेशिक सरकार ने दिल्ली में वायसराय के महल एवं केंद्रीय सचिवालय स्थापित किए। यहीं वायसराय का महल वर्तमान में राष्ट्रपति भवन है। यह ब्रिटिश की साम्राज्यवादी विजय का प्रतीक था। यह दूसरी बात है कि अपने निर्माण के 18 वर्षों के अंदर ही ब्रिटिश को यह खाली करना पड़ा।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद साम्राज्यवादी शक्तियों को गहरा धक्का लगा। ब्रिटेन, फ्रांस, हॉलैण्ड सभी द्वितीय विश्व युद्ध में क्षतिग्रस्त हो गए। उधर उपनिवेशों में भी राष्ट्रीय प्रतिरोध की भावना तीव्र हो गई। अतः पश्चिमी शक्तियों को पहले अपने एशियाई उपनिवेश और फिर अफ्रीकी उपनिवेशों से हाथ धोना पड़ा तथा 20वीं सदी के अंत तक सभी उपनिवेश स्वतंत्र हो गए। किंतु इसका अर्थ यह नहीं की साम्राज्यवाद समाप्त हो गया वरन् साम्राज्यवाद ने केवल अपना रूप परिवर्तित किया। अब प्रत्यक्ष नियंत्रण के युग समाप्त हो गए थे इसलिए वित्तीय एजेंसियों के माध्यम से पश्चिमी शक्तियों ने उन पर अप्रत्यक्ष नियंत्रण स्थापित किया। साम्राज्यवाद के इस नए संस्करण को यूएसए ने प्रोत्साहन दिया। अतः इसे गैर औपचारिक साम्राज्यवाद भी कहा जाता है। आई एम एफ, विश्व बैंक, विश्व व्यापार संगठन तथा लाइफ साइंस कंपनियों के माध्यम से इस गैर औपचारिक साम्राज्यवादी नीति को आगे बढ़ाया गया।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि 19वीं सदी के साम्राज्यवादी नीति से कौन लाभान्वित हुआ? साम्राज्यवाद का सबसे हास्यास्पद पहलू यह है कि पश्चिमी देश यह दावा करने रहे की साम्राज्यवाद का लाभ उपनिवेशों को मिला न की उन्हें। 1980 के दशक में ब्रिटिश विद्वानों ने तो यहां तक सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि ब्रिटेन से सम्पर्क के कारण एक तरफ जहां भारतीय अर्थव्यवस्था का आधुनिकरण हुआ वहीं ब्रिटिश अर्थव्यवस्था पिछड़ गयी। उन्होंने यहां तक दावा किया कि ब्रिटिश पूंजी का भारत में निवेश होने के कारण स्वयं ब्रिटेन ने आर्थिक महाशक्ति का दर्जा खो दिया। किंतु यहां प्रश्न यह उपस्थित होता है कि फिर भी पश्चिमी देशों ने आसानी से अपने उपनिवेशों को खाली नहीं किया वरन् एक लम्बी लड़ाई के पश्चात् ही वे अपने उपनिवेश को खाली कर सके।

पश्चिमी साम्राज्यवाद ने एशियाई-अफ्रीकी देशों को विविध रूपों में क्षति पहुंचाई। उन्होंने उन क्षेत्रों में ऐसी फसलें एवं पशुओं को निर्यातित कर दिया जो वहां की आबो-हवा के अनुकूल नहीं थी। इस कारण से वहां का पारिस्थितिक तंत्र बिगड़ गया। इसे इकोलॉजिकल इम्पीयरिज्म का नाम दिया जाता है। उदाहरण के लिए ऑस्ट्रिया और न्यूजीलैंड में गेंहू और जौ जैसी फसलें एवं भेड़-बकरियां एवं सूअर लाने के कारण वहां का पारिस्थितिकी तंत्र बिगड़ गया। उसी प्रकार वर्तमान में अफ्रीका के सब-सहारा क्षेत्र में जो निरंतर अकाल पड़ते हैं उनके लिए भी यूरोपीय देशों की नीतियां उत्तरदायी रही हैं। वहां की परंपरागत फसलों को नगदी फसलों से विस्थापित कर दिया गया जिसके कारण वहां का पारिस्थितिक तंत्र बिगड़ गया है।

पश्चिमी राष्ट्रों के द्वारा एशियाई एवं अफ्रीकी देशों पर यूरोप में विकसित (वेस्टफेलिया की संधि के आधार पर) राष्ट्रीय राज्य को ऊपर से थोप दिया गया। विशेषकर अफ्रीका में यह अनुभव बहुत ही कूट रहा क्योंकि वहां कई जनजातीय समूहों को मिलाकर कृत्रिम रूप में राष्ट्र का निर्माण किया गया था किंतु यूरोपीय देशों के निकलने के पश्चात् इन राष्ट्रों के अंदर जनजातीय तनाव फिर उभर कर आ गया। यद्यपि अफ्रीकन यूनियन ने इन राष्ट्रों से अपील की कि वे अपनी वर्तमान राष्ट्रीय सीमा बने रहने दे फिर भी इथियोपिया और सूडान जैसे राष्ट्रों का विघटन हो गया तथा कुछ और राष्ट्र विघटन की प्रतीक्षा में हैं।

पश्चिमी देशों का इन उपनिवेशों पर एक और बड़ा नकारात्मक प्रभाव रहा सांस्कृतिक हिंसा (Cultural voilance) का विस्तार। अर्थात् उन्होंने एशियाई अफ्रीकी समाज पर अपने सामाजिक और सांस्कृतिक मानदंडों को जबरन थोपने का प्रयास किया। इस कारण से इन क्षेत्रों में परिवार प्रणाली टूटने लगी। पश्चिमी विद्वानों

[illegible]

5. समाजवाद एवं मार्क्सवाद

समाजवाद

समाजवाद एक जीवन शैली के रूप में कोई नही चीज नहीं थी। प्रारंभिक समाज में इसकी अवस्थिति थी क्योंकि ऐसे समाज में सभी लोग मिलकर काम करते थे तथा उत्पादन में हिस्सा बांटते थे। यहां उत्पादन अधिशेष की गुंजाइश नहीं थी। परन्तु एक आर्थिक एवं सामाजिक दर्शन के रूप में समाजवाद बाद के काल की देन हैं एक विचारधारा के रूप में समाजवाद आधुनिक औद्योगीकरण से संबंधित रहा है। सन् 1830 के दशक से पूर्व 'समाजवाद' शब्द सामान्य प्रयोग में नहीं आया था। उदारवाद की तरह समाजवाद शब्द का प्रयोग भी विभिन्न अर्थों में होता रहा है। आगे चलकर आर्थिक मामलों में किसी प्रकार के सरकारी हस्तक्षेप को समाजवाद के नाम से जाना जाने लगा, चाहे वह रूस की साम्यवादी पद्धति रही हो या संयुक्त राज्य अमेरिका कल्याणकारी राज्य।

यद्यपि समाजवाद के भी विभिन्न प्रकार हैं परन्तु कुछ मूलभूत सिद्धांतों पर सभी के दृष्टिकोण में एक प्रकार की समानता है। सभी समाजवादी ऐसा सोचते हैं कि प्रचलित धन के वितरण की पद्धति अन्यायपूर्ण है। चूंकि कुछ लोगों के पास आवश्यकता से अधिक धन का संग्रह होता है। अतः बहुसंख्यक व्यक्ति जीवन की मूलभूत सुविधाओं से वंचित हो जाते हैं। अतः आर्थिक असमानता को कम करने के लिए समाजवादी चिन्तकों का मुख्य बल रहा है कि उत्पादन एवं वितरण के साधन पर सामूहिक स्वामित्व हो। उनका यह भी मानना है कि उत्पादन के लाभ का, जो मानवीय श्रम का प्रतिफल है, विभाजन न्यायपूर्ण ढंग से किया जाना चाहिए।

ऐतिहासिक दृष्टि से आधुनिक समाजवाद का विभाजन दो चरणों में किया जाता है, मार्क्स से पूर्व का काल एवं मार्क्स के पश्चात् का समाजवाद। मार्क्सवादी विचारकों ने इन्हें क्रमशः यूटोपियन एवं वैज्ञानिक समाजवाद का नाम दिया है। कुछ समाजवादियों को यूटोपियन कहा जाता था क्योंकि उनकी दृष्टि आदर्शवादी थी तथा उनके कार्यक्रम की प्रकृति अव्यवहारिक थी। अधिकतर यूटोपियन विचारक फ्रांसीसी थे तथा वे या तो मध्य वर्ग से अथवा उच्च वर्ग से आये थे। ये विचारक क्रांति के बदले शांतिपूर्ण परिवर्तन में विश्वास रखते थे क्योंकि उनका मानना था कि फ्रांस की क्रांति से यह सबक लिया जा सकता है कि आन्दोलन का रास्ता असफल हो गया। फ्रांस की क्रांति ने जैकोबिन आतंक के माध्यम से अपने बच्चे को ही निगलना प्रारंभ कर दिया। साथ ही उन्हें यह विश्वास नहीं थी कि पुरानी व्यवस्था स्वमेव चरमरा कर टूट जायेगी।

प्रथम यूटोपियन समाजवादी, जिसने समाजवादी विचारधारा के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, एक फ्रांसिसी विचारक सेंट साईमन था। सेंट साईमन का मानना था कि राज्य को समाज को इस ढंग से संगठित करना चाहिये कि लोग एक दूसरे का शोषण करने के बदले मिलजुल कर प्रकृति का दोहन करें। समाज को निर्धन वर्ग के भौतिक एवं नैतिक उत्थान के लिए कार्य करना चाहिये। उसने घोषित किया 'प्रत्येक को उसकी क्षमता के अनुसार तथा प्रत्येक को उसके कार्य के अनुसार'। आगे यही समाजवाद का मूलभूत नारा बन गया।

एक अन्य महत्वपूर्ण यूटोपियन विचारक चार्ल्स फोरियर था। जबकि सेंट साईमन ने विज्ञान, उद्योग और केंद्रीय प्रशासन के संदर्भ में सोचा वहीं फोरियर औद्योगिकीकरण के प्रसार के विरोध में था क्योंकि उसका मानना था कि यह सामाजिकता, व्यक्तिकता तथा सृजन के आनन्द को बाधित करता है। उसका मानना था कि मानव को ग्रामीण क्षेत्र में निवास करना चाहिए और उसे ग्रामीण क्षेत्र में या छोटे शहर के एक छोटे वर्कशॉप में काम करना चाहिए। उसने सहकारी संस्थानों के गठन पर बल दिया। ये सहकारी संस्थान फ्लांग्स कहे जाते थे। यह फ्लांग्स 1600 से 1800 संख्या वाले किसानों का समुदाय होता था। ये किसान लगभग 5000 एकड़ सहकारी भूमि पर खेती करते थे। परन्तु यह अवधारणा यूरोप में लोकप्रिय नहीं हो सकी बल्कि कुछ हद तक यह अमेरिका में ही लोकप्रिय हुई क्योंकि यहां भूमि की अधिकता थी।

फ्रांसिसी यूटोपियन चिन्तकों में एकमात्र जिसने राजनीति में भी हिस्सा लिया, लुई स्लां था। उसके सुधार कार्यक्रम अन्य यूटोपियन विचारकों की तुलना में अधिक व्यावहारिक थे। उसका मानना था कि आर्थिक सुधारों का प्रभावकारी बनाने के लिए, उनसे पूर्व राजनीतिक सुधार आवश्यक हैं। एक बार अगर प्रजातांत्रिक शासन



की स्थापना का उद्देश्य पूरा हो जाता है तब राज्य नये प्रकार के औद्योगिक संगठन को स्थापित करने की दिशा में प्रयास कर



जापान का औद्योगिकरण

जापान का औद्योगिकरण उस आधुनिकीकरण का हिस्सा था जिसका उद्देश्य था जापान को एक सशक्त राष्ट्र बनाना ताकि जापान पश्चिमी शक्तियों का सामना कर सके। जापान में औद्योगिकरण की प्रक्रिया मेइजी पुनर्स्थापना के साथ आरम्भ हुई।

जापान की सरकार ने यह महसूस किया की औद्योगिकरण के प्रोत्साहन देने के लिए पूंजीगत तथा भारी उद्योग की स्थापना आवश्यक है। किंतु जापान के पूंजीपति वर्ग भारी उद्योगों की स्थापना में रूची नहीं ले रहे थे इसके दो कारण थे। प्रथम पूंजीगत उद्योगों में बड़ी मात्रा तथा एक लम्बे समय के लिए पूंजी निवेश की जरूरत होती है। दूसरा जापान के पूंजीपतियों को उद्योगों की जगह भूमि क्षेत्रों में निवेश करना अधिक लाभदायक प्रतीत हो रहा था। अतः स्वयं सरकार को पूंजी निवेश के लिए आगे बढ़ना पड़ा। सरकारी निवेश के आधार पर बड़े एवं भारी उद्योग खड़े किये गए फिर सरकार ने कुछ सामरिक महत्व के उद्योगों को छोड़कर बाकी उद्योगों को सब्सिडी दर पर निजी पूंजीपतियों के हाथों बेच दिया। अतः जापान के औद्योगिकरण का स्वरूप अलग हो गया। दूसरे शब्दों में जापान के इन उद्योगों को खरीदने वाले कोई और नहीं वरन् जापान के बैंकर ही थे इसलिए जापान में बैंकिंग पूंजी का एक भाग औद्योगिक पूंजी में तब्दील हो गया। जापान में कोई नया वर्ग अस्तित्व में नहीं आया। इस प्रकार आरंभ में ही जापान में एकाधिकारवादी पूंजीवाद का विकास देखा गया।

जापान के औद्योगिकरण के तीन चरण हैं-

1. **प्रथम चरण (1868-85):** इस चरण में यातायात एवं संचार व्यवस्था के साथ-साथ सूती-वस्त्रों का विकास हुआ।
2. **द्वितीय चरण (1885-98):** इस चरण में जापान ने प्रथम विश्व युद्ध का लाभ उठाया तथा एशिया में अपने बाजार का विस्तार किया।
3. **तृतीय चरण (1998-37):** यहां प्रेरित व्यापार को धक्का लगा किंतु इस चरण में रासायनिक उद्योग, विद्युत उद्योग आदि का विकास हुआ।

प्रभाव:

जापान में एकाधिकारवादी पूंजीवाद का विकास हुआ। परिवार सरकारी नीति को प्रभावित करने लगा। जापान एक छोटा-सा देश था। इसलिए बाह्य बाजार उसके लिए बहुत ही आवश्यक था। बाह्य बाजार की खोज ने ही जापान में सैन्यवाद को प्रोत्साहन दिया।

समाजवादी औद्योगिकरण (रूस तथा चीन)

समाजवादी औद्योगिकरण का पहला मॉडल रूस में तैयार हुआ था तो दूसरा मॉडल चीन में। सोवियत रूस में औद्योगिक मॉडल लेनिन के समय तैयार किया गया था किंतु इसका आगे विकास स्टालिन के काल में भी देखा गया। स्टालिन ने ही सोवियत रूस में आर्थिक आयोजन आरम्भ किया तथा उसने सफलतापूर्वक दो आर्थिक आयोजन को पूरा किया। उसने तीसरा आर्थिक आयोजन प्रारंभ किया किंतु जर्मनी के आक्रमण के कारण उसे बीच में ही छोड़ना पड़ा।

लेनिन के समय भौगोलिक आधार एक विशेषज्ञ फेल्डमेन ने तैयार किया था। इस मॉडल को दो क्षेत्रक (2 Sector model) मॉडल भी कहते हैं। इस मॉडल के तहत सार्वजनिक उद्योगों की स्थापना पर विशेष बल दिया गया था हालांकि कुछ हद तक निजी क्षेत्र की भूमिका भी बनी रही थी।

इस मॉडल के तहत कुछ पूंजीगत उद्योगों की स्थापना पर बल दिया गया था तथा नारा दिया गया कि 'मशीनों के लिए मशीनों की स्थापना' आगे स्टालिन ने सोवियत रूस की अर्थव्यवस्था को पूरी तरह से राज्य नियंत्रण में

ला दिया की स्टालिन इस बात से आशंकित थे कि सोवियत रूस पर शीघ्र ही पश्चिम से आक्रमण हो सकता है। इसलिए वह सोवियत रूस में एक व्यापक औद्योगिकरण कार्यक्रम को लागू करना चाहता था किंतु औद्योगिकरण के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए एक मजबूत कृषि व्यवस्था का होना आवश्यक था। इसलिए स्टालिन ने भूमि के सामूहिक पर बल दिया। तत्पश्चात् उसने बड़े एवं भारी उद्योगों की स्थापना पर बल दिया।

स्टालिन का मानना था कि भारी उद्योगों भावी औद्योगिकरण का आधार निर्मित करेगा क्योंकि इसके उत्पाद दूसरी पीढ़ी के औद्योगिकरण में निवेश होंगे तत्पश्चात् दूसरी पीढ़ी के उपभोक्ता सम्बन्धों का विकास होगा। आगे औद्योगिकरण के इस मॉडल को अन्य देशों ने भी अपनाया जिसमें एक भारत भी था किंतु आगे चलकर इस मॉडल को एक कमी यह देखी गई कि बाजार में उपभोक्ता सम्बन्धी उत्पादों की कमी पड़ गई।

औद्योगिकरण में चीन का समाजवादी मॉडल: आरंभ में चीन ने भी रूसी औद्योगिकरण के मॉडल को अपनाया और 1953 में आर्थिक आयोजन की शुरुआत की थी किंतु शीघ्र ही माओत्से ने यह महसूस किया कि अगर औद्योगिकरण के वर्तमान मॉडल को बनाए रखा गया तो निवेश एवं तकनीकी के मामले में सोवियत रूस पर चीन की निर्भरता बनी रहेगी।

साथ ही उसका यह भी मानना था कि इस मॉडल में रोजगार संवर्द्धन की बहुत कम गुंजाइश है। जबकि चीन अति जनसंख्या वाला देश था इसलिए उसने शीघ्र ही इस मॉडल को छोड़ दिया तथा इस वैकल्पिक मॉडल का विकास किया। उसने यह घोषित किया कि चीन का औद्योगिकरण का आधार कृषि अर्थव्यवस्था होगी और वही छोटे उद्योग एवं वर्कशाप इसमें पूर्व की भूमिका निभाएंगे। इस तरह समाजवादी औद्योगिकरण का एक वैकल्पिक ढांचा विकसित हुआ।

रूस में औद्योगिकरण

रूस एक महाद्वीपीय आकार वाला देश था इसके पास अपार संसाधन थे किंतु जलवायु संबंधी कारक एवं अपेक्षाकृत पूंजी की कमी के कारण औद्योगिकरण की दिशा में यह क्रांति नहीं कर पा रहा था।

सर्वप्रथम 18वीं सदी के एक शासक पीटर दि ग्रेट ने औद्योगिकरण की दिशा में एक प्रयास प्रारंभ किया। वस्तुतः पीटर की औद्योगिकरण में विशेष रुचि थी। उसने कुछ उद्योगों की स्थापना करवायी तथा उनमें दासों को नियुक्त किया, किंतु पीटर दि ग्रेट इस दिशा में और आगे नहीं बढ़ सका तथा उसके अंतर्गत औद्योगिकरण का यह प्रयास विफल ही रहा।

रूस में वास्तविक औद्योगिकरण 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में जाकर ऐलेक्जेंडर द्वितीय के अंतर्गत आरंभ हुआ। जार ऐलेक्जेंडर द्वितीय के वित्त मंत्री सर्ज-बिटे ने औद्योगिकरण की दिशा में महत्वपूर्ण प्रयास किया। वस्तुतः रूस का औद्योगिकरण एक रूसी अर्थशास्त्री गेरसेन क्रॉन के मॉडल पर आधारित है। इस मॉडल का यह मानना है कि जो औद्योगिकरण के क्षेत्र में से आते हैं उनके लिए आवश्यक नहीं है कि वे प्रथम औद्योगिकृत देश के मॉडल को ही अपनाएं। फिर उसका यह भी मानना है कि अगर किसी देश में औद्योगिकरण के कुछ मूलभूत कारक अनुपस्थित हैं तो इसकी भरपाई की जा सकती है। बशर्ते राज्य इसमें सक्रिय भूमिका निभाए। इस प्रणाली में राज्य अपने बल पर औद्योगिकरण को आरंभ कर देता है साथ ही जब यह औद्योगिकरण अपने उछाल पर पहुंच जाता है तब राज्य पीछे हट जाता है और यह औद्योगिकरण अपनी गति से चलता रहता है।

रूस में औद्योगिकरण के लिए पूंजी का अभाव था इसलिए रूस के औद्योगिकरण में राज्य की महत्वपूर्ण भूमिका रही। राज्य ने निवेशकर्ता, उत्पादक एवं खरीददार की भूमिका निभाई। रूसी औद्योगिकरण के निम्नलिखित लक्षण प्रकट होते हैं।

1. औद्योगिकरण के आधार के रूप में पूंजीगत एवं भारी उद्योगों की स्थापना पर बल दिया गया।
2. निवेश की आवश्यकता को पूरा करने के लिए किसानों पर अत्यधिक कर लगाया गया।
3. अतिरिक्त रकम को पूरा करने के लिए विदेशी ऋण पर बल दिया गया।
4. रूस के औद्योगिकरण में मध्यमवर्ग की बहुत ही सीमित भूमिका रही।





प्रभाव

1. 1914 ई. तक रूस विश्व का सबसे कर्जदार देश बन गया।
2. अत्यधिक कर लगाने के कारण किसान विक्षुब्ध हुए।
3. रूस में एक सशक्त मध्यमवर्ग का विकास नहीं हो सका जैसा कि हम पश्चिमी यूरोप में देखते हैं। इसलिए 1917 के रूसी क्रांति के मध्य आसानी से नेतृत्व मध्यमवर्ग को हाथों से छीन कर सर्वहारा वर्ग के हाथों में पहुंच गया।
4. रूस विश्व का चौथा औद्योगिकृत देश बन गया, यद्यपि वह औद्योगीकरण में जर्मनी, संयुक्त राज्य अमेरिका, और ब्रिटेन से पिछड़ा हुआ था। लेकिन रूस में उद्योग कुछ ही क्षेत्र में सीमित हो गया था इसीलिए इन्हीं क्षेत्र में औद्योगिक श्रमिकों की आवाजाही होती थी। इसके कारण रूसी श्रमिकों का तेजी से सर्वहाराकरण हुआ।

वस्तुतः उन देशों में व्यावसायिक पूंजी का औद्योगिक पूंजी में रूपांतरण नहीं हो सका जबकि ब्रिटेन में ऐसा हुआ इसके निम्नलिखित कारण थे:-

1. इंग्लैंड, स्कॉटलैंड, आयरलैंड सभी संगठित होकर एक समन्वित राष्ट्र का स्वरूप ले चुके थे जगह-जगह चुंगी लेने की बजाय चुंगी व्यवस्था का मानकीकरण कर दिया गया था इसलिये वाणिज्य-व्यापार को प्रोत्साहन मिला।
2. ब्रिटेन में 17वीं सदी में कृषि क्रांति को प्रोत्साहन मिला था वस्तुतः इस काल में बाड़बंदी (Incloser) संबंधी कानून बनाए गये थे इसके माध्यम से बड़े जमींदार अथवा कुलीन छोटे किसानों की भूमि को अपनी भूमि की परिधि में मिलाने लगे इससे बड़े-बड़े भूमिखंड का विकास हुआ तथा वहां पूंजीवादी खेती शुरू हुई। फिर इस काल में अनाजों की उपलब्धता भी बढ़ी साथ ही पशुओं के नस्ल में सुधार के कारण मांस की उपलब्धता भी बढ़ी। इस कारण से जनसंख्या वृद्धि को प्रोत्साहन मिला।
3. उधर ब्रिटेन में बैंकिंग व्यवस्था का विकास हुआ तथा चैंबर्स ऑफ कॉमर्स की स्थापना हुई फिर चूँकि लोगों की प्रति व्यक्ति आय में भी वृद्धि हुई इसलिए बाजार का भी विस्तार हुआ।
4. ब्रिटिश औद्योगिक क्रांति में निम्नलिखित कारकों की अहम भूमिका रही थी यथा वाष्प शक्ति का विकास, सूती एवं ऊनी वस्त्र उद्योग का विकास, नहरों एवं पक्की सड़कों का विकास तथा रेलवे इंजन का विकास। ब्रिटेन में सूती वस्त्र उद्योग के विकास का दिलचस्प पहलू यह है कि वह कच्चे माल एवं बाजार दोनों ही दृष्टियों से विदेशी कारकों पर निर्भर था अर्थात् भारत से बड़ी मात्रा में कपास प्राप्त हो जाता, फिर भारत वस्त्र बाजार की भूमिका निभाता। भारत जैसे एक सूती वस्त्र के देश को सूती वस्त्रों से ही भर दिया गया था। पक्की सड़क एवं नहरों के निर्माण ने यातायात व्यवस्था को सुदृढ़ किया। नहरों के माध्यम से खनन उत्पाद के रूप में कोयले को फैक्टरी स्थल तक पहुंचाना आसान हो गया उसी प्रकार थामस स्टीवेशन द्वारा रेलवे इंजन के आविष्कार के बाद रेलवे का भी विकास संभव हुआ।

उपर्युक्त कारकों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार के तकनीकी विकास भी देखे गये। उदाहरण के लिये कोक के माध्यम से लोहे गलाने की विधि का विकास, जान के फ्लाईंग सरल, आर्क राइट पावर लूम, प्रिंटिंग मशीन आदि का प्रचलन शुरू हुआ इससे उत्पादन को विशिष्ट प्रोत्साहन मिला। तकनीकी विकास ही अपने आप में बड़ी चीज नहीं होती वरन उससे भी महत्वपूर्ण होता है उसकी सामाजिक स्वीकृति। एक यूरोपीय विद्वान क्रिस्टोफर हिल ने सच ही कहा है कि ब्रिटेन में स्पीनिंग जेनी असफल हो गई क्योंकि उसे सरकार ने ऊपर से लागू करने का प्रयत्न किया।

ब्रिटिश औद्योगिक क्रांति में घरेलू बाजार और विदेशी बाजार इन दोनों की ही भूमिका रही आरंभ में इसे घरेलू बाजार का समर्थन मिला फिर 1750 के पश्चात् ब्रिटेन ने भारत, अमेरिका, वेस्टइंडीज आदि क्षेत्रों में एक बड़े बाजार का विकास किया। सबसे बढ़कर भारत से निकासी की गई पूंजी की भी इसमें अहम भूमिका मानी जाती है। बताया जाता है कि औद्योगिक क्रांति में ब्रिटेन के लगभग 5% राष्ट्रीय आय का निवेश हुआ, इसमें लगभग 2% राष्ट्रीय आय केवल भारत से आता था।

अगर वर्तमान संदर्भ में देखा जाय तो लगभग सभी देशों ने अपनी विदेश नीति को आर्थिक नीति के अधीन रखी है किंतु अगर ब्रिटेन के संदर्भ में देखा जाए तो यह प्रवृत्ति बहुत पहले से कायम थी, ब्रिटिश सरकार ने अपनी विदेश नीति को आर्थिक नीति के अधीन रखा था।

सबसे बढ़कर ब्रिटेन में जब व्यावसायिक पूंजीवाद और औद्योगिक पूंजीवाद के हितों में टकराहट हुई तो फिर निर्णय औद्योगिक पूंजीवाद के हित में ही लिया गया। उदाहरण के लिए भारत में संदर्भ में 1813 का चार्टर अधिनियम लाकर भारत का दरवाजा ब्रिटिश वस्तुओं के लिये खोल दिया गया तथा ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी का व्यापारिक एकाधिकार समाप्त कर दिया गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रिटेन में वे अधिकार कारक मौजूद थे जो औद्योगिक क्रांति को लाने में सक्षम हो सकते थे फ्रांस में एक निरंकुश राजतंत्र पुनर्स्थापित हो चुका था जबकि हॉलैंड की विशिष्ट रूचि वित्तीय मामलों में ही रही थी यही कारण है कि ये देश औद्योगिकरण के मामले में ब्रिटेन से पिछड़ गया।



16. अंतर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व (International Personalities)



1. अब्राहम लिंकन (Abraham Lincoln)

लिंकन का जन्म 12 फरवरी, 1809 को अमेरिका में हुआ था। स्टोरकीपर के रूप में जीवन की शुरूआत करने वाले लिंकन 1861 में संपन्न के चुनाव में विजयी हुए। रंगभेद के प्रबल विरोधी रहे अब्राहम लिंकन ने 1 जनवरी, 1863 से संपूर्ण अमेरिका में दास प्रथा की समाप्ति कर दी। इस मुद्दे पर उद्योग बहुल उत्तरी अमेरिका एवं कृषि प्रधान दक्षिणी अमेरिका में व्यापक वैचारिक मतभेद था, जिसके कारण वहां गृहयुद्ध की गंभीर स्थिति ने जोर पकड़ ली थी। 15 अप्रैल, 1865 को वाशिंगटन में नाटक देखने के क्रम में एक विल्किस बूथ ने गोली मारकर उनकी हत्या कर दी। न्याय, निष्पक्षता एवं ईमानदारी के कारण उन्हें 'ऑनेस्ट एबे' (Honest Abe) की उपाधि प्रदान की गई थी।

2. एडोल्फ हिटलर (Adolf Hitler)

20 अप्रैल, 1899 को ऑस्ट्रिया में हिटलर का जन्म हुआ था। वह एक अच्छा कार्टूनिस्ट था तथा अपने शुरूआती दिनों में ऑस्ट्रिया में चित्र बनाया करता था। एडोल्फ हिटलर प्रथम विश्वयुद्ध काल में जर्मनी की सेना में शामिल हुआ, परन्तु जब युद्ध में जर्मनी की पराजय एवं वर्साय की अपमानजनक संधि हुई तो उसने जर्मन राष्ट्रवादियों को संगठित किया तथा 1933 में जर्मनी का चांसलर बन गया।

उसने अपनी आत्मकथा 'मीन कैम्प' जेल में लिखी। उसने नाजी पार्टी का संगठन किया तथा वर्साय की संधि की एक-एक शर्तों को तोड़ना शुरू किया जिसका परिणाम हमें द्वितीय विश्वयुद्ध के रूप देखने को मिला। 30 अप्रैल, 1945 को बर्लिन के एक बेकर में मित्रराष्ट्रों की सेना से घिरे हिटलर ने आत्महत्या कर ली।

3. जोसेफ स्टालिन (Joseph Stalin)

इनका जन्म जॉर्जिया में हुआ था। 1917 की रूसी क्रांति की सफलता के पश्चात् सत्ता में आए बोलशेविक पार्टी से संबंधित बोलशेविक सेंट्रल कमिटी के जनरल सेक्रेटरी बने। 1924 में लेनिन की मृत्यु के पश्चात् रूस के प्रधानमंत्री बने। प्रधानमंत्री के रूप में स्टालिन ने कठोर शासन स्थापित किया। 1941 में हिटलर द्वारा रूस पर आक्रमण किए जाने के कारण स्टालिन ने रूस को द्वितीय विश्वयुद्ध में झोंक दिया। 5 मार्च 1953 को उनकी मृत्यु हो गई।

4. कार्ल मार्क्स (Karl Marx)

इनका जन्म 5 मई, 1808 को हुआ था। पेरिस के कोलोन शहर में एक लेखक के रूप में कार्य जहां वे वामपंथी विचारधारा से प्रभावित हुए। मार्क्स ने लंदन में वामपंथी दल के लिए कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो तैयार किया। उसने वैज्ञानिक समाजवाद की आधुनिक परिकल्पना प्रस्तुत की तथा सर्वहारा वर्ग को पूंजीपतियों के विरुद्ध उकसाया। उन्होंने सर्वहारा वर्ग का आहन करते हुए कहा कि 'दुनिया के मजदूरों एक हो जाओ।' उसने प्रसिद्ध पुस्तक 'दास कैपिटल' लिखी। मार्क्स की विचारधारा को लेनिन ने पूर्ण रूप दिया और फिर लेनिन से माओ ने प्रेरणा ग्रहण की।

5. लियोनार्दो द विंची (Leonardo da Vinci)

बहुमुखी प्रतिभा के धनी लियोनार्दो द विंची पुनर्जागरण कालीन इटली के एक महान चित्रकार, मूर्तिकार, डॉक्टर, वैज्ञानिक और इंजीनियर थे। उनका सर्वोत्कृष्ट चित्र- 'मोनालिसा' तथा 'द लास्ट सपर' है। उन्होंने हवाई जहाज एवं पनडुब्बी की कल्पना करते हुए भी चित्र बनाए।

6. माओत्से तुंग (Mao Tse Tung)

माओत्से तुंग का जन्म चीन के हुनान प्रांत के शओशन कस्बे में हुआ था। वे चीनी क्रांतिकारी, राजनैतिक विचारक एवं साम्यवादी दल के नेता थे, जिनके नेतृत्व में चीन की क्रांति सफल रही। उन्होंने 1949 में 'जनवादी गणतंत्र चीन' की स्थापना की तथा 1976 तक मृत्युपर्यन्त चीन का नेतृत्व किया। उन्होंने मार्क्सवादी-लेनिनवादी विचारधारा को सैनिक रणनीति में जोड़कर जिस सिद्धान्त को जन्म दिया उसे माओवाद के नाम से जाना जाता है। टाइम पत्रिका के अनुसार माओ की गणना 20वीं शताब्दी के 100 सबसे प्रभावशाली व्यक्तियों में की जाती है।

7. नेपोलियन बोनापार्ट (Napoleon Bonaparte)

नेपोलियन का जन्म भूमध्यसागर में स्थित कोशिका द्वीप में हुआ था वह एक फ्रांसीसी सैन्य अधिकारी एवं राजनीतिक नेता था। फ्रांसीसी क्रांति की सफलता के पश्चात् के वर्षों में वह प्रमुखता में छाया। उन्होंने अपने सफल अभियानों, कूटनीतिक चातुर्य तथा संधियों एवं वैवाहिक संबंधों से यूरोप का नक्शा ही बदल दिया था 1799-1804 की अवधि में वह प्रधान कौंसल के रूप में फ्रांस का शासक रहा एवं 1804-1814 तथा 1815 में सौ दिनों के लिए वह फ्रांस का सम्राट रहा। नेपोलियन की कानून संहिता, महाद्वीपीय व्यवस्था आदि विशेष रूप से चर्चा का विषय रहा। 1815 में हुए वाटरलू की प्रसिद्ध लड़ाई में मित्रराष्ट्रों की सेना से नेपोलियन हार गया तथा उसे गिरफ्तार कर सेन्ट हेलेना टापू पर भेज दिया गया उसकी मृत्यु हो गई। संभवतः उसे आर्सेनिक नामक विष देकर मारा गया।

**8. नेल्सन मंडेला (Nelson Mandela)**

दक्षिण अफ्रीका के प्रथम अश्वेत राष्ट्रपति (कार्यकाल 10 मई 1994-14 जून 1999) राष्ट्रपति बनने से पूर्व दक्षिण अफ्रीका में सदियों से चली आ रही रंगभेद की नीति के प्रमुख विरोधी रहे। अफ्रीकी नेशनल कांग्रेस एवं इसके सशस्त्र गुट उमखोंतो वे सिजवे' के अध्यक्ष रह चुके हैं। उन्होंने अपने जीवन के 27 वर्ष रंगभेद नीति के विरुद्ध लड़ते हुए रॉबेन द्वीप पर जेल में बिताए।

9. साइमन बोलिवर (Simon Bolivar)

वेनेजुएला के एक सैन्य और राजनीतिक नेता। उन्होंने लैटिन अमेरिका को स्पेनिश साम्राज्य से स्वतंत्रता दिलाने के लिए सफल संघर्ष में प्रमुख भूमिका निभाई थी। अमेरिका के इतिहास के सबसे प्रभावशाली नेताओं में से एक माने जाते हैं

10. हो चि मिन्ह (Ho Chi Minh)

विश्व में मार्क्स, एंजेलस, लेनिन एवं स्टालिन की साम्यवादी परंपरा की एशियाई कड़ी माने जाने वाले विचारक जो वियतनाम के राष्ट्रपति थे। उनके जीवन की प्रत्येक दृष्टि साम्यवादी के लिए सर्वहारा क्रांति तथा राष्ट्रवादियों के लिए विश्व की प्रबलतम साम्राज्यवादी शक्तियों-फ्रांस एवं अमेरिका के विरुद्ध संघर्ष की लंबी शिक्षाप्रद कहानी रही है। यदि लेनिन ने रूस में वर्ग संघर्ष का उदाहरण प्रस्तुत किया तो हो चि मिन्ह ने 'राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष' का उदाहरण वियतनाम के माध्यम से प्रस्तुत किया।

11. फिदेल कास्त्रो (Fidel Castro)

क्यूबा के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ और क्यूबा क्रांति के प्राथमिक नेताओं में से एक थे जो अमेरिका समर्थित फुल्लेंकियो बतिस्ता की तानाशाही को समाप्त कर फरवरी 1959 से दिसंबर 1976 तक क्यूबा के प्रधानमंत्री रहे। फिर क्यूबा की राज्य परिषद् एवं मंत्रिपरिषद् के अध्यक्ष (राष्ट्रपति) रहे, उन्होंने फरवरी 2008 में अपने पद से इस्तीफा दे दिया।

12. मेटर्निख (Metternich)

मेटर्निख का जन्म 15 मई 1773 को काटलेज नामक स्थान पर हुआ था। 1809 में वह ऑस्ट्रिया का चांसलर बना। वह अपने युग का महान राजनीतिज्ञ था। 1815 से 1848 ई. तक यूरोप में वह प्रभावशाली व्यक्ति रहा था। प्रगति के विरुद्ध वह प्रतिक्रियात्मक भावनाओं से ओत-प्रोत था। वह नवीन विचारों से द्वेष रखने वाला एवं प्राचीन अधिकारपूर्ण प्रवृत्तियों का मुखिया था। नेपोलियन के पतन के पश्चात् 1815 में आयोजित वियना अवस्था में अग्रणी भूमिका तथा संपूर्ण यूरोप में प्रतिक्रियावादी शासन व्यवस्था कायम की। मेटर्निख की इस व्यवस्था से उबकर ऑस्ट्रिया में विद्रोह हो गया तथा 1848 में मेटर्निख सत्ता का पतन हो गया।

13. डेसिडेरियस इरास्मस (Desiderius Erasmus)

हॉलैंड निवासी इरास्मस को उसकी विद्वता, शैली एवं परिपक्व विचारों के कारण 'यूरोप का विद्वान' कहा जाता है। उसने बाइबिल का अनुवाद किया तथा अनेक ग्रंथों की रचना की। इन ग्रंथों में 'द प्रेज ऑफ फॉली' (मूर्खता की कहानी) उल्लेखनीय है।

14. मौन्टेन (Montaigne)

प्रसिद्ध फ्रांसीसी साहित्यकार मौन्टेन को "आधुनिक निबंध विधा का जनक" माना जाता है। इन्होंने परंपरागत नैतिकता, धार्मिक एवं सामाजिक मान्यता पर कटु व्यंग्य किया तथा मनुष्य के महत्त्व को अंगीकार किया।



15. जेफ्री चौसर (Geoffrey Chaucer)

इन्हें 'अंग्रेजी काव्य का पिता' कहा जाता है। उन्होंने 'कैंटरबरी टेल्स' की रचना की। चौसर ने लंबी कविता के रूप में 'सॉनेट' को जन्म दिया।

16. राफेल (Raffale)

पुनर्जागरणकालीन महान चित्रकार के रूप में राफेल का नाम अग्रगण्य है। राफेल ने मेडोना का सुकोमल चित्रांकन किया जा अपनी सजीवता एवं सुंदरता के लिए विश्वविद्यालय है।

17. रूसो (Rousseau)

प्रबोधनकालीन विचारकों में रूसो का नाम सर्वाधिक अग्रगण्य है। वह इस युग का सर्वाधिक मौलिक एवं संभवतः सबसे अधिक प्रभावशाली लेखक व विचारक था। 'सोशल-कांटेक्ट' एवं 'सकंड डिस्कोर्स' नामक अपनी पुस्तकों में उसने एक प्राकृतिक अवस्था की कल्पना की जब मनुष्य स्वतंत्र, समान एवं प्रसन्न था। परन्तु, बाद में जैसे-जैसे व्यक्तियों तथा परिवारों का पारस्परिक संपर्क बढ़ा, प्रतियोगिता एवं पक्षपात की धारणाएं सबल होने लगी और अंत में कृषि, उद्योग तथा व्यक्तिगत भूसंपत्ति के साथ प्राकृतिक क्षमता विलीन हो गई तथा उसकी जगह असमानता, अन्याय तथा शोषण का प्रादुर्भाव हुआ। क्रमिक रूप से आमीर एवं गरीब का भेद पराकाष्ठा पर पहुंच गया तथा दोनों एक-दूसरे के प्रतिद्वंद्वी हो गए। इस अशांति को समाप्त करने हेतु एवं अपनी खोई हुई स्वतंत्रता तथा आनन्द की पुनः प्राप्ति हेतु एक-दूसरे में समझौता हुआ और इस प्रकार सरकार या राज्य का जन्म हुआ। रूसो ने बताया कि संप्रभुता जनता में अंतर्निहित है कानून जनता की सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति है न कि राजा का आदेश। सरकार तभी तक कायम रह सकती है जब तक वह समझौते के नियमों का अनुपालन करती है। अतः इस स्थिति में जनता को यह अधिकार है कि समझौते के उल्लंघन करने वाली सरकार को उखाड़कर नई सरकार स्थापित कर ले। अतः हम इस आधार पर कह सकते हैं कि प्रजातंत्र की खुली उद्घोषणा इससे बेहतर कहीं और नहीं मिलती। फ्रांसीसी क्रांति के विभिन्न चरणों पर इस विचारधारा का व्यापक असर पड़ा। रूसो ने समानता एवं स्वतंत्रता को समाज के संगठन का आधार बताया।

18. कांट (Kant)

यह एक प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक था जो राजनीतिक कार्यों में प्रबोधक परंपरा के लेखकों में महत्वपूर्ण था। उसने मूलतः प्राकृतिक विज्ञान में रुचि दिखाई। अपने दार्शनिक लेखों में उसने इस बात पर विशेष जोर दिया कि नैतिक कर्तव्यों को किस प्रकार प्राकृतिक विज्ञान पर आधारित किया गया। इस संबंध में उसने धर्म एवं दिव्य ज्ञान को अस्वीकार किया। समस्याओं के समाधान का उसका दृष्टिकोण आदर्शवादी था। कांट के अनुसार, यदि मनुष्य को नैतिक संकल्प के अनुसार जीत की स्वतंत्रता दे दी जाय तो वह स्वतंत्र हो जाएगा। मनुष्य की नैतिकता की प्रकृति सार्वभौमिक है। उसके विचारानुसार जब हम यह नहीं जान पाते हैं कि ईश्वर का अस्तित्व है, हमारी अनुपस्थिति में ईश्वर की संकल्पना को स्वीकृत करती है। कांट ने व्यक्ति की स्वतंत्रता पर विशेष बल दिया। व्यक्ति राज्य के नियंत्रण में नहीं है, राज्य का कार्य व्यक्ति की स्वतंत्रता को सुरक्षित रखना है। उसने लोक संप्रभुता का विचार प्रस्तुत किया। उनके अनुसार राजनीतिक व्यवस्था लोक इच्छा पर आधारित होना चाहिए।

19. मॉण्टेस्क्यू (Montesquieu)

यह 18वीं शताब्दी का प्रसिद्ध विचारक था, जिसने सामाजिक क्षेत्र में मौलिक योगदान दिया। वह इंग्लैंड के स्वतंत्र वातावरण से विशेष रूप से प्रभावित था। वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि अलग-अलग परिस्थितियों में अलग-अलग सरकार अनुकूल होती है। उदाहरणस्वरूप विशाल देश हेतु निरंकुश राजतंत्र, फ्रांस जैसे मध्यम दर्जे के देश में सीमित राजतंत्र एवं स्विट्जरलैंड जैसे छोटे देश हेतु गणतंत्रीय शासन प्रणाली का उपयुक्त होगा। उसने न केवल लोक के सीमित संप्रभुता के सिद्धान्त का समर्थन किया वरन् यह भी बताया कि कैसे शक्ति के पृथक्करण एवं नियंत्रण तथा संतुलन के नियमों द्वारा इसे प्राप्त किया जा सकता है। उसने कहा कि शासन के तीन अंग-कार्यपालिका विधायिका एवं न्यायपालिका और इन तीनों को एक-दूसरे से पृथक् एवं समान रूप से शक्तिशाली होनी चाहिए। अर्थात् शासन के अंगों का कार्यक्षेत्र सुनिश्चित, सीमित तथा स्वतंत्र होना चाहिए। इसके पीछे तर्क यह था कि यदि शासन की विभिन्न शक्तियां एक ही अंग में केंद्रित हो गईं तो नागरिकों की स्वतंत्रता कभी भी सुरक्षित नहीं रह

सकती। राजनीतिशास्त्र के प्रति मांटेस्क्यू की यह महान देन थी। अमेरिकी संविधान से पृथक्करण के सिद्धान्त को लिखित रूप में अपनाया गया।

20. वाल्टेयर (Voltaire)

18वीं शताब्दी के फ्रांसीसी लेखकों में वाल्टेयर का नाम उल्लेखनीय है। वह बौद्धिक स्वतंत्रता का समर्थक, एक महान लेखक, कवि, दार्शनिक, नाटककार एवं व्यंग्यकार था। वह मनुष्य के वैयक्तिक स्वतंत्रता एवं प्राकृतिक अधिकारों का प्रबल पोषक था। आधुनिक समालोचकों ने उसे 'संपादकों का राजा' की उपाधि दी जिसका आशय यह है कि उसके लेखन में मौलिकता कम है परन्तु रोचकता, एवं चित्र ग्राहकता अधिक है। उसकी प्रसिद्ध पुस्तक- 'लुई 14वें का युग' 'बदनाम चीजों को नष्ट कर दो' आदि महत्वपूर्ण है। वह प्रत्येक प्रकार के शोषण और अंधविश्वास की व्यंग्यपूर्ण एवं कटु आलोचना करता था। यद्यपि धर्म के मामलों में वह आस्तिक था परन्तु वह चर्च का कट्टर विरोधी था। वस्तुतः जीवन के अंतिम वर्षों में उसका उद्देश्य चर्च का विध्वंस करना ही रह गया था। हम यह कह सकते हैं कि चर्च के प्रति विरोध का मूल प्रतिपादक वाल्टेयर ही था।

21. जॉन लॉक (John Locke)

यह एक प्रसिद्ध अंग्रेज दार्शनिक था। उसका कहना था कि सभी व्यक्ति को कुछ प्राकृतिक अधिकार प्राप्त हैं जैसे-जीवन का अधिकार, स्वतंत्रता का अधिकार, संपत्ति का अधिकार आदि। मनुष्य ने अपने प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा हेतु सरकार की स्थापना की। परन्तु जब सरकार अपने इस कर्तव्य का पालन करने से मुकर जाये तो जनता को उसे पदच्युत करने का अधिकार है अर्थात् लॉक ने राज्य के सीमित संप्रभुता के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। लॉक के इस विचार को अमेरिका संविधान की प्रस्तावना तथा फ्रांसीसी क्रांति में मानव एवं नागरिक अधिकारों की घोषणा में भी स्पष्ट रूप में देख जा सकता है। इस प्रकार लॉक ने शासन प्रणाली पर चोट कर जनतांत्रिक सरकार की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया। उसकी प्रसिद्ध पुस्तक है- 'एसे कन्सर्निंग ह्यूमन अंडरस्टैंडिंग (Essay Concerning Human Understanding)

22. एडम स्मिथ (Adam Smith)

यह स्कॉटिश अर्थशास्त्री था जिसने किसी भी राष्ट्र की समृद्धि हेतु व्यवसाय की स्वतंत्रता पर जोर दिया। उनके अनुसार व्यवसायियों को किसी भी तरह के धंधे की तथा मजदूरों को किसी भी तरह की नौकरी की छूट होनी चाहिए। साथ ही यह भी बताया कि मूल्य एवं गुणवत्ता का निर्धारण बाजार की प्रतियोगिता के आधार पर होनी चाहिए न कि सरकारी नियंत्रण की नीति के आधार पर।

15वीं शताब्दी के अंतिम दिनों में वाणिज्यवाद पश्चिमी यूरोप का सबसे प्रबल सिद्धांत के रूप में उभरा। नियंत्रित अर्थव्यवस्था की यह पद्धति 17वीं शताब्दी में अपनी चरम सीमा पर पहुंच चुका था। इस समय केवल हॉलैण्ड ही स्वतंत्र व्यापार को अपनाए हुए था। 1776 में एडम स्मिथ ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'वेल्थ ऑफ नेशंस' में प्रसिद्ध लैसेज फेयर (मुक्त व्यापार) का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। यह सिद्धान्त अर्थशास्त्र के अधीन मांग-पूर्ति के नियम पर काम करती है। ये नियम तभी अपने सर्वोत्तम रूप में चल सकती है जब व्यवसाय को सरकारी नियंत्रण से मुक्त कर दिया जाय। इस सिद्धान्त ने अमेरिका एवं फ्रांसीसी क्रांति के नेताओं को विशेष रूप से प्रभावित किया।

23. चार्ल्स फ्यूरिए (Charles Fourier)

यह फ्रांसीसी समाजवादी विचारक था। उसने अपनी प्रसिद्ध 'द सोशल डेस्टिनी' (मनुष्य की सामाजिक नियति) में मानवता की मुक्ति हेतु अपनी योजना प्रस्तुत की। उसने सामाजिक विश्लेषण में न्यूटन के यांत्रिकी के आधार पर आकर्षण की यंत्र व्यवस्था को प्रमुखता दी। उसके अनुसार संपूर्ण समाज सहज प्रेरणा से संगठित होगा, सभी को अपनी योग्यता के अनुसार पुरस्कार मिलेगा तथा मिल जुलकर रहने के कारण अमीर एवं गरीब का अंतर निरर्थक हो जाएगा।

24. रॉबर्ट ओवेन (Robert Owen)

ये एक प्रसिद्ध ब्रिटिश उद्योगपति तथा सहकारिता आंदोलन के अग्रदूत थे। सर्वप्रथम समाजवाद शब्द का प्रयोग करने का श्रेय रॉबर्ट ओवेन दिया जाता है। उसके सिद्धान्त 'द न्यू व्यू ऑफ सोसायटी' एवं 'द बुल ऑफ न्यू मोरल वर्ल्ड' नामक किताब में संगृहीत हैं। ओवेन ने प्रतिस्पर्धात्मक व्यापार प्रणाली का खंडन करते हुए सहकारिता प्रणाली का समर्थन किया। उसके अनुसार श्रमिकों को सुविधाएं देकर उत्पादन



का बढ़ाया। श्रमिकों एवं मिल-मालिकों के बीच भाई-चारे के अटूट संबंध को पैदा कर उसने श्रमिक समस्याओं का समाधान खोजने का प्रयास किया।



25. सैमुअल एडम्स (Samuel Adams)

अमेरिका स्वाधीनता संग्राम में अग्रणी भूमिका निभाने वाले सैमुअल एडम्स की अगुवाई में बोस्टन बंदरगाह पर ईस्ट इंडिया कंपनी के जहाज में भरी चाय की पेटियों को समुद्र में फेंक दिया गया। अमेरिका के इतिहास में यह घटना बोस्टन टी पार्टी के नाम से प्रसिद्ध है।

26. टॉमस पेन (Thomas Penn)

प्रसिद्ध अमेरिका स्वाधीनता सेनानी टॉमस पेन ने अपनी पुस्तक 'कॉमनसेंस' में अमेरिकी उपनिवेश में किए गए शोषण की व्यापक निंदा की एवं इस शोषण से मुक्ति हेतु भरसक प्रयास की अपील की।

27. जॉर्ज वाशिंगटन (George Washington)

अमेरिका के प्रथम राष्ट्रपति जॉर्ज वाशिंगटन ने अमेरिकी स्वाधीनता के युद्ध में 1781 में अमेरिका सेनापति के रूप से सफलता अर्जित की। इस युद्ध में ब्रिटिश सेनापति लॉर्ड कॉर्नवालिस कॉनवालिस को आत्मसमर्पण करना पड़ा था।

28. रिचर्ड ऑर्कराइट (Richard Arkwright)

प्रसिद्ध वैज्ञानिक रिचर्ड ऑर्कराइट ने सूत कातने की मशीन (वाटरफेम) का आविष्कार किया। इस मशीन का संचालन हाथ-पैर के स्थान पर जलशक्ति से होता था। जो विशाल एवं तकनीकी जटिलता से मुक्त थी। ऑर्कराइट की इस उपलब्धियों के परिणामस्वरूप औद्योगिक क्रांति में तीव्रता आई।

29. मैजिनी (Mazzini)

मैजिनी की इटली के एकीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका थी। इनका जन्म 1805 में जेनेवा में हुआ था। 1831 ई. में इन्होंने फ्रांस में बर्ग इटली नामक संस्था की स्थापना की जिसने इटली के राष्ट्रीय आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ये आदर्शवादी एवं गणतंत्रवादी थे। इनके अनुसार स्वतंत्रता की प्राप्ति तथा विदेशी सत्ता की समाप्ति हेतु विदेशी सहायता की आवश्यकता नहीं है।

30. कावूर (Cavour)

तुरिन (इटली) के कुलीन घराने में 1810 में जन्में कावूर 1852 में पीडमोंट-सार्डीनिया के प्रधानमंत्री बने। इटली के एकीकरण हेतु वह विदेशी सहायता एवं आर्थिक तथा सैनिक उन्नति को आवश्यक मानते थे। अपनी कूटनीतिक चालों का परिचय देते हुए कावूर ने इटली के एकीकरण का मार्ग प्रशस्त किया। 1860 में मध्य इटली के परमा, मेडोना, टस्कनी आदि राज्यों में जनमत संग्रह कराकर इटली के एकीकरण की दिशा में सार्थक पहल की।

31. गैरीबाल्डी (Garibaldi)

इटली का एक महान देशभक्त जिन्होंने 1000 लाल कुर्ती वाले सैनिकों की सहायता से सिसली एवं नेपल्स नामक राज्यों को जीतकर इटली के एकीकरण में महान भूमिका निभाई। ये गुरिल्ला युद्ध पद्धति के मशहूर पुरोधा थे

32. बिस्मार्क (Bismarck)

बिस्मार्क का जन्म 1815 में ब्रेडनबर्ग के कुलीन परिवार में हुआ था। अपनी प्रसिद्ध लौह एवं रक्त की नीति के माध्यम से उसने जर्मनी के एकीकरण की प्रक्रिया को पूर्ण किया। वह प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी का एकीकरण चाहता था। 1862 में प्रशा का चांसलर बनने के पश्चात् बिस्मार्क ने एक महान राजनीतिज्ञ एवं कूटनीतिज्ञ का परिचय देते हुए ऑस्ट्रिया एवं फ्रांस को पराजित कर 1870 में जर्मनी के एकीकरण का कार्य संपन्न किया जिससे जर्मनी एक आधुनिक व साम्राज्यवादी देश के रूप में अंतर्राष्ट्रीय जगत में प्रतिस्थापित हुआ।

33. लेनिन (Lenin)

व्लादीमीर इलिच उलियानोव लेनिन रूस की बोलशविक क्रांति के कर्णधार एवं समाजवादी व्यवस्था के जनक के रूप में प्रसिद्ध हैं। वह मार्क्स के विचारों का समर्थक था एवं उन्हीं के विचारों के आधार पर उसने मजदूर संगठन बनाकर मार्क्सवादी सिद्धान्त का प्रचार-प्रसार किया। लेनिन ने 1902 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'हाट इस टू बी डन'-में यह तर्क दिया कि सर्वहारा को भी विचारधारा की जरूरत है तभी

वह साम्यवादी विचारधारा का प्रचार प्रसार कर सकता है। लेनिन की अगुवाई में रूस में प्रथम साम्यवादी सत्ता अस्तित्व में आई।

34. मुसोलिनी (Mussolini)

इटली में फासिस्ट शक्ति के पुरोधा बेनिटो मुसोलिनी तानाशाही का पक्षधर था। 1922 में उसकी फासिस्ट संगठन ने रोम में हड़ताल एवं पैदल मार्च किया। उसने सम्राट विक्टर इमैनुएल को अपदस्थ कर फासिस्ट शासन की स्थापना की एवं प्रधानमंत्री पद ग्रहण किया। 1935 में अबीसीनिया, 1939 में अल्बानिया तथा 1941 में ग्रीस पर कब्जा कर लिया। मुसोलिनी ने द्वितीय विश्वयुद्ध में सक्रियता से भाग लिया।

35. सनायात सेन (Sun Yat-sen)

आधुनिक चीन के राष्ट्रपति के रूप में प्रसिद्ध डॉ. सनायात सेन का नाम अग्रगण्य है। उन्होंने कुओमिन्तांग नामक राष्ट्रीय पार्टी की स्थापना कर अपने विचारों का प्रचार-प्रसार किया। सनायात सेन के तीन प्रमुख सिद्धान्त थे-राष्ट्रवाद, लोकतंत्रवाद एवं सामाजिक न्याय। इन्हीं तीन सिद्धान्तों के आधार पर उन्होंने चीन के नवनिर्माण प्रक्रिया की नींव डाली। सनायात सेन के कारण कुओमिन्तांग तथा चीनी कम्युनिस्ट पार्टी में सहयोगपूर्ण संबंध बना। परन्तु 1925 में उसकी मृत्यु के बाद यह एकता टूट गई तथा चीन गृहस्थ के जंजाल में फंस गया।

36. च्यांग काई शेक (Chiang Kai-Shek)

सनायात सेन की मृत्यु के पश्चात् 1926 में च्यांग काई शेक के अधीन कुओमिन्तांग पार्टी का विकास हुआ तथा कैटन में चीनी सत्ता का मुख्य केन्द्र स्थापित हुआ। सैन्य कार्यवाई द्वारा इन्होंने उत्तरी चीन के हैंकों, नानकिंग एवं शंघाई पर अधिकार कर चीनी एकता का स्थापित करने का प्रयास किया। परन्तु ये चीन में माओत्से तुंग के नेतृत्व में साम्यवादी आंदोलन को नहीं रोक सके। साम्यवादियों के इन दबाव के कारण उन्हें चीन की मुख्य भूमि को छोड़कर फारमोसा नामक द्वीप पर शरण लेनी पड़ी। (1949)।

37. वुडरो विल्सन (Woodrow Wilson)

अमेरिका राष्ट्रपति वुडरो विल्सन की प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के पश्चात् आयोजित होने वाले पेरिस शांति सम्मेलन में महत्वपूर्ण भूमिका रही। उन्होंने अपने प्रसिद्ध 14 सूत्रीय घोषणा के माध्यम में शांति स्थापित करने का प्रयास किया। इन्होंने इस बात पर विशेष ध्यान दिया कि युद्ध के पश्चात् न्याय एवं शांति की स्थापना की जाय जो नागरिकों की निष्पक्ष इच्छा पर आधारित हो। इस तरह विल्सन ने राष्ट्रीयता एवं आत्मनिर्माण का सिद्धान्त प्रतिपादित किया।

38. खुश्चेव (Khrushchev)

1956 में सोवियत संघ की सत्ता पर काबिज होने वाले खुश्चेव के समय में शीतयुद्ध में शिथिलता के चिह्न दिखाई पड़ने लगे थे। खुश्चेव के ही प्रयास से कैम्प डेविड वार्ता (सोवियत राष्ट्रपति खुश्चेव एवं अमेरिका आइनजहॉवर के मध्य वार्ता) से दोनों महाशक्तियों के मध्य आपसी विश्वास बहाली का प्रयास किया गया।

39. मिखाइल गोर्बाचोव (Mikhail Gorbachev)

सोवियत संघ की सत्ता पर मार्च 1985 में काबिज होने वाले मिखाइल गोर्बाचोव ने सोवियत संघ में व्याप्त अराजकता की स्थिति से उभरने हेतु प्रसिद्ध पेरिस्ट्रोइका (पुनर्गठन) तथा ग्लासनोस्त (खुलापन) की नीति अपनाई। ये नीतियां सोवियत संघ की आर्थिक दशा में सुधार तथा साम्यवाद को सकारात्मक दृष्टि से मजबूत बनाने के उद्देश्य से लागू की गई थी। उनकी ये नीतियां असफल साबित हुईं तथा इन नीतियों की विफलता ने 1991 में सोवियत संघ के विघटन का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

40. मार्शल टीटो (Marshal Tito)

यूगोस्लाविया के महान नेता मार्शल टीटो 1953 में पूरे जीवन काल के लिए राष्ट्रपति नियुक्त किये गये। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् रूस ने युगोस्लाविया को साम्यवादी राष्ट्र बताते हुए अपने अधिकार में लेने का प्रयास किया। परन्तु टीटो ने साम्यवाद से रक्षा करते हुए यूगोस्लाविया को एक स्वतंत्र राष्ट्र बनाए रखा। मार्शल टीटो ने मिस्त्र के नासिर एवं भारत के पंडित जवाहर लाल नेहरू के साथ मिलकर गुटनिरपेक्ष आंदोलन की नींव डाली।



41. लूई ब्लॉ (Louis Blanc)

प्रसिद्ध फ्रांसीसी विचारक लूई ब्लॉ ने अपनी पुस्तक 'ऑर्गानाइजेशन ऑफ़ लेबर' साम्यवादी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। इन्होंने वैयक्तिक स्वतंत्रता का विरोध किया तथा राज्य में मजदूर के कार्य के अधिकार एवं उसकी प्राप्ति हेतु राष्ट्रीय कारखानों एवं सामाजिक कारखानों की मांग की। इस तरह 'राज्य समाजवाद' का श्रेय लूई ब्लॉ को ही है। ब्लॉ के इन विचारों से फ्रांस के सर्वहारा वर्ग में चेतना उत्पन्न हुई तथा 1848 में सम्राट लूई फिलिप के विरुद्ध सर्वहारा वर्ग ने क्रांति में सक्रिय रूप से भाग लिया।





विश्व का इतिहास



₹:375

B-7/8, Bhandari House, Dr. Mukherjee Nagar, Behind UCO Bank, Delhi-11009

011-42632053, 8586816870, 9711977277

Noida Centre:- C-32, Ground Floor Sector-II, Noida 9891063875, 9717327720



@EG classes



www.expertguidance.org